

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

५१

५१

ज्ञावरभाष्योपेत

मीमांसादर्शनम्

(तर्कपादः)

हिन्दीव्याख्यासहितम्

व्याख्याकारः—

डॉ० उमाशंकरवर्मा 'ऋषिः'

एम० ए०, डी० लिट०, साहित्योपाचार्यः,

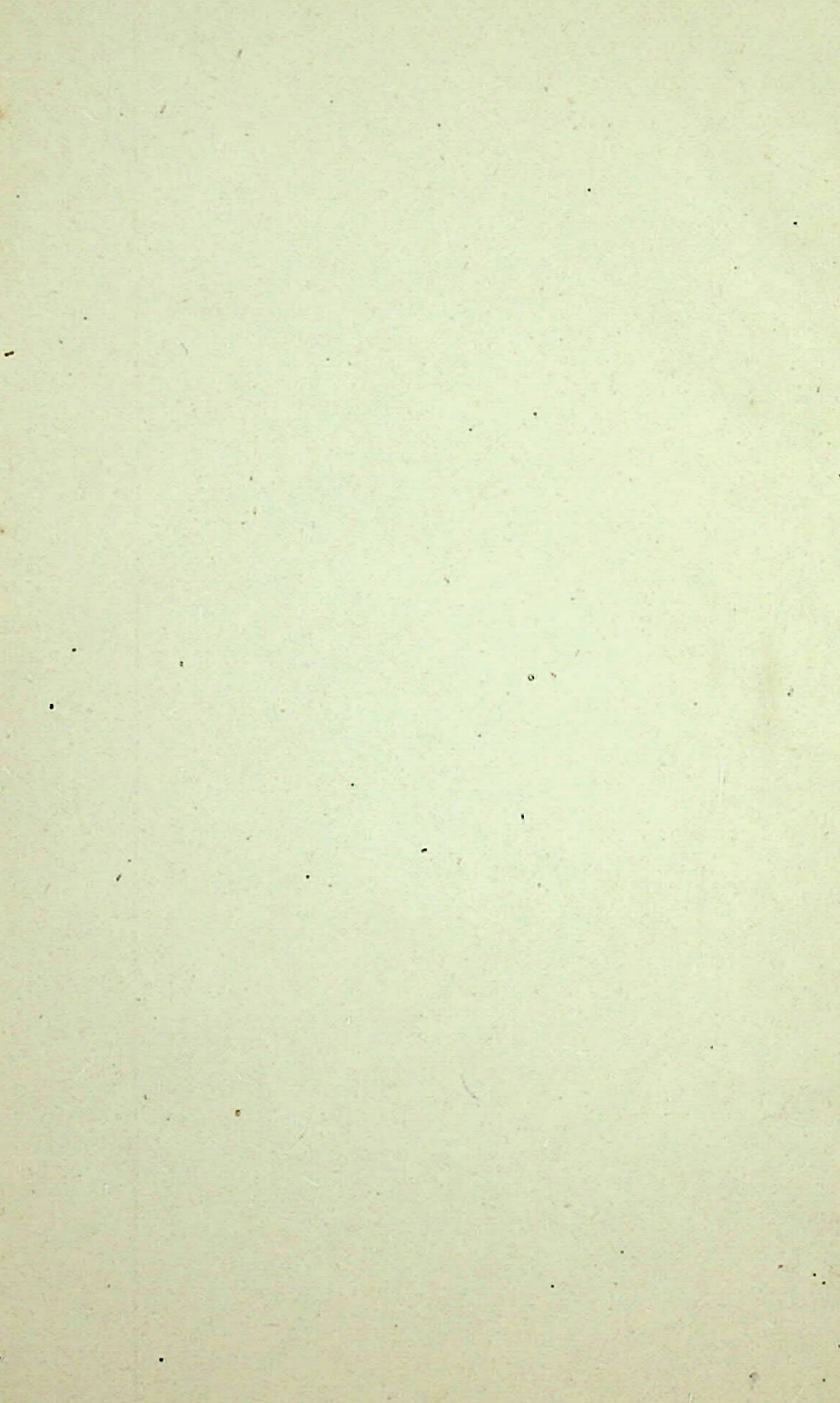
संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

जयराज सो





॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

५१



शाबरभाष्योपेतं

मीमांसादर्शनम्

(तर्कपादः)

हिन्दीव्याख्यासहितम्

व्याख्याकारः—

डॉ० उम्माचंकरचर्मा 'ऋषिः'

एम० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्यः,

संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

आ रा ण सी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

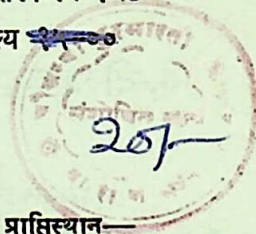
वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : { ६३०७६ दुकान
५५३५७ निवास

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९८०

मूल्य ~~१०००~~



अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी-२२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

51



MĪMĀMSĀ-DARSANAM

With

ŚĀBARA-BHĀṢYA

PĀDA I (TARKAPĀDA)

WITH AN ELABORATE HINDI COMMENTARY

By

Dr. Uma Shankar Sharma 'Rishi'

M. A., D. Litt. (Patna), Sahityacharya

Dept. of Sanskrit, Patna University, Patna.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 129

VARANASI-221001

First Edition

1980

Price Rs. ~~12-00~~

Also can be had of

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 69

VARANASI 221001

विषय-सूची

[क]	भूमिका	(३-४६)
	(१) दर्शनों का विकास	३
	(२) मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास	६
	(३) मीमांसा-दर्शन के मुख्य विषय	१९
	(४) तर्कपाद की विवेचना	२८
[ख]	शाबरभाष्य सहित मीमांसा-दर्शन (तर्कपाद)	
	(१) धर्मजिज्ञासा (सू० १)	१
	(२) धर्मलक्षण (सू० २)	८
	(३) धर्मप्रामाण्यपरीक्षा (सू० ३)	१७
	(४) धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता (सू० ४)	१७
	(५) वेदविधिप्रामाण्य (सू० ५)	१८
	(६) शब्द की नित्यता (सू० ६-२३)	६१
	(७) वाक्यार्थ का प्रामाण्य (सू० २४-२६)	७७
	(८) वेद की अपौरुषेयता (सू० २७-३२)	८५



•

2

2

1

•

2

•

भूमिका

[१. दर्शनों का विकास—मीमांसा की उत्पत्ति—मीमांसा तथा वेदान्त की समान-तन्त्रता । २. मीमांसा-दर्शन का इतिहास—जैमिनि—शबर—कुमारिल—प्रभाकर—अन्य मीमांसक । ३. मीमांसा-दर्शन से मुख्य विषयों का निरूपण—प्रमाण, प्रामाण्य, प्रमेय, शक्ति, वेदविभाग । ४. तर्कपाद की विवेचना—धर्मलक्षण—प्रामाण्य—शब्दार्थ-संबन्ध—शब्द की नित्यता—वाक्यार्थस्वरूप—वेद की अपौरुषेयता—प्रस्तुत प्रयास ।]

पूर्वाचार्यान्प्रति नतितर्ति नूनमावेद्य सद्यो
 लुप्तप्रायं श्रुतिमनुगतं दर्शनं जैमिनीयम् ।
 आश्रित्यैतामभिनवदृशा भूमिकामत्र कुर्वे
 मीमांसायामपि जनरुचिर्वर्धतामेतया चेत् ॥

दर्शनों का विकास

भारतीय दर्शन में सामान्यतः आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों की चर्चा की जाती है । आस्तिक दर्शनों में तीन समान तन्त्रों का उल्लेख होता है—सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा-वेदान्त । यद्यपि ये समानतन्त्र दो पृथक् दर्शन-संप्रदायों से निर्मित हैं तथापि अधिकांश सिद्धान्तों में समानता होने के कारण दो-दो संप्रदायों को समानतन्त्र मान लिया गया है । उदाहरण के लिए सांख्य के सभी सिद्धान्त योग को मान्य हैं, केवल ईश्वर-तत्त्व की स्वीकृति योग का अतिरिक्त सिद्धान्त है । दोनों की विषय-विवेचन-प्रणाली में कुछ अन्तर अवश्य है अन्यथा समानता न होकर अभिन्नता हो जाती । न्याय-वैशेषिक भी अन्ततः पदार्थों के विवेचन में मिल जाते हैं, वैसे न्याय का आरंभ १६ पदार्थों के विवेचन से होता है, वैशेषिक का ७ पदार्थों (या ६ पदार्थों) से । मीमांसा-वेदान्त भी क्रमशः कर्म तथा ज्ञान के विवेचन से भिन्न-विषयक होने पर भी समान आधार (वेद) पर आश्रित होने के कारण समानतन्त्र है । यदि वेदान्त के परवर्ती संप्रदायों को छोड़ दें तो सूत्र-ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक ही प्रतीत होंगे ।

आज बहुत लोकप्रिय होने पर भी उक्त समानतन्त्रों के अंगों के रूप में निर्दिष्ट छह आस्तिक दर्शनों की कल्पना अपेक्षाकृत नयी है । यद्यपि छहों दर्शनों का निरूपण करने वाले प्राचीन सूत्र ईस्वी पूर्व के ही हैं किन्तु उन छहों को पृथक् संप्रदायों के रूप में निर्दिष्ट कर संकलित करनेवाले आधुनिक इतिहास के समान लिखे गये ग्रंथों का सर्वथा अभाव था । ये दर्शन पृथक्-पृथक् प्रस्थानों के रूप में ही चलते रहे । प्राचीन भारत के आश्रमों में इनके अध्यापन के लिए पृथक्-पृथक् आचार्य होते थे—कभी-कभी एक ही दर्शन में किसी तथ्य पर मतभेद हो जाने के कारण शाखाएँ बन जाती थीं तथा उनके भी पृथक् अध्यापन होते थे । इस प्रकार सैद्धान्तिक विवेचन व्यावहारिक रूप भी ले लेता था ।

जब दर्शनों के संकलन का भी प्रयास हुआ तो उनकी संख्या तथा उक्त संख्या के अंतर्गत गिनाये गये संप्रदायों के विषय में पर्याप्त मतभेद होने लगा । मीमांसा की भाषा में हम कह सकते हैं कि ये संकलन पौरुषेय थे, अतः पूर्वाग्रह तथा अन्य मानवीय दोषों का होना इनमें सर्वथा संभव था । मिथिला के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा टीकाकार वाचस्पति मिश्र

(८४१ ई०) ने भी, जिन्हें 'पड्दर्शनीवल्लभ' की उपाधि से विभूषित किया जाता है, आधुनिक युग में प्रचलित छह दर्शनों के नाम नहीं लिये हैं,^१ यद्यपि उन्होंने छहों दर्शनों पर पुस्तकें लिखी हैं। शंकराचार्य के सर्वसिद्धान्तसंग्रह, जिनदत्त सूरि के पड्दर्शनसमुच्चय तथा माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह (१४ वीं शताब्दी) में भी पड्दर्शन के रूप में उक्त दर्शनों का उल्लेख नहीं मिलता।

विश्वसारतन्त्र की गुरुगीता (१२ वीं शताब्दी) में सर्वप्रथम प्रसिद्ध छह दर्शनों के नाम मिलते हैं।^२ उसके बाद मधुसूदन सरस्वती ने 'शिवमहिम्नस्तोत्र' की व्याख्या में (१६ वीं शताब्दी) इन दर्शनों का उल्लेख छह आस्तिक दर्शनों के नाम से किया है। इस प्रकार दर्शनों की संख्या तथा उनके क्रम का कोई निश्चित नियम पहले से नहीं चला आ रहा था। वस्तुतः दर्शनों का विभाजन सार्वजनिक तथा व्यापकरूप से हो नहीं सकता।

किन्तु जितने भी दर्शन हैं उनमें आधारभूत सामग्री की दृष्टि से पूर्व-मीमांसा तथा वेदान्त (उत्तरमीमांसा) प्राचीनतम हैं, क्योंकि ये वेदों पर सर्वाधिक निर्भर हैं, यद्यपि इन्हें दर्शनों के रूप में सूत्रित करने का प्रयास बाद में हुआ। ऋग्वेद के काल से ही प्रचलित वैदिक कर्मकाण्डों का दार्शनिक-विवेचन करते हुए वेदों की प्रामाणिकता, कर्मों से प्राप्त होने वाले धर्म, विभिन्न वैदिक कर्मों का अंगारिभाव इत्यादि अनेक विषयों का प्रतिपादन मीमांसा में होने लगा। वेदाङ्गों के रूप में जो कल्पसूत्र (श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र) लिखे गये, वे मीमांसादर्शन के साक्षात् आधार हैं। दूसरी ओर, वेदान्त-दर्शन (उत्तरमीमांसा) का आधार वैदिक ज्ञानकाण्ड है जिसका आरंभ ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों से होकर परिणति उपनिषदों में हुई है।^३ ऐतिहासिक तथा तार्किक दोनों दृष्टियों से वेदों का अन्तिम दर्शन उपनिषदों में निहित होने के कारण इन्हें वेदान्त कहा गया है।

दोनों दर्शनों की समानतंत्रता के विषय में यही कहना पर्याप्त होगा कि दोनों को मीमांसा कहा गया है—एक को पूर्व, दूसरे को उत्तर। तात्पर्य यह है कि दोनों मिलकर ही पूर्ण दर्शन बनते हैं। यदि इनका पृथक् ग्रहण किया जाय तो मीमांसा में जैसे विशुद्ध दार्शनिक विषयों का अभाव है, वैसे ही वेदान्त में आचार या कर्म-विषयक विवेचन का अभाव है। इसलिए इनमें परस्पर सापेक्षभाव है।

प्रमाण-विषय को छोड़कर मीमांसा में कोई गंभीर दार्शनिक विवेचन नहीं मिलता—प्रमाणों की संख्या के विषय में भी दोनों मीमांसाओं के दृष्टिकोण एक ही हैं। मीमांसा में आत्मा, अपूर्व इत्यादि दार्शनिक विषयों का प्रवेश टीकाकारों ने मुख्य विषय (धर्म) की व्याख्या के लिए ही किया है, क्योंकि यदि आत्मा नहीं हो तो धर्म किसे होगा ? अपूर्व नहीं रहेगा तो कर्म और धर्म की कौन जोड़ेगा ? किन्तु आत्मा की विस्तृत व्याख्या जानने के लिए कुमारिल जैसे आचार्य भी वेदान्त के अध्ययन का परामर्श देते हैं।^४ दूसरी ओर

१. यन्न्यायकणिका—तत्त्वसमीक्षा—तत्त्वबिन्दुभिः ।

यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः ॥

२. डा० गंगानाथ झा—Purva-Mimamsa in its Sources, P. 2.

३. ब्र० सू० (१ । १ । २) शांकरभाष्य—वेदान्तवाक्यकुसुमग्रन्थनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।

४. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद का अन्तिम श्लोक—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरण्पुत्रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।

दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

वेदान्तियों की ओर से आचार-पक्ष के ज्ञान के लिए मीमांसा के अध्ययन की अनुमति दी जाती है—व्यवहारे भाट्टनयः ।

वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—ब्रह्म जिसका आधार है वेद या शास्त्र (शास्त्रयो-
नित्वात्—ब्र० सू० १।१।३) । वेद की प्रामाणिकता तथा उनके वाक्यों के अर्थज्ञान
के लिए कतिपय व्याख्या-पद्धतियों का ज्ञान हुए बिना शास्त्र के आधार पर की गयी ब्रह्म-
जिज्ञासा अपूर्ण ही नहीं, असंभव होगी । इसलिए वेदान्त इन विषयों के लिए मीमांसा-
दर्शन पर आश्रित होता है । इसी आधार पर वेदान्त का विशाल भवन आश्रित है । पूर्व-
मीमांसा इन विषयों का विवेचन करके वेदान्त में आत्मतत्त्व के निरूपण के लिए मार्ग
प्रशस्त करती है । दोनों दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही है । इस विषय में भी
कुमारिल तथा शंकराचार्य के सिद्धान्तों में विशेष भेद नहीं मिलेगा ।^१

शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य (३।३।५३) मीमांसादर्शन की पूर्ववर्तिता का
निर्देश किया है । इस सूत्र से आरम्भ होने वाले अधिकरण में शरीर से भिन्न आत्मा की
स्थिति बतलायी गई है । इसमें शंकराचार्य कहते हैं कि मीमांसा-सूत्र (१।१।५) के
भाष्य में शबरस्वामी ने भले ही कर्मों का फल-भोग करने के लिए आत्मा की सत्ता का
विवेचन किया है, किन्तु सूत्रकार जैमिनि इस विषय में कुछ नहीं कहते हैं । दूसरी ओर
सूत्रकार बादरायण प्रस्तुत सूत्र (३।३।५३) में ही उस विषय का निर्देश करते हैं जिससे
स्पष्ट है कि शबरस्वामी ने प्रस्तुत सूत्र से ही आत्मविषयक विचार लिया है । शंकर आगे
कहते हैं कि आत्मा की सत्ता का सम्बन्ध पूरे शास्त्र से है (अर्थात् पूर्व तथा उत्तर दोनों
मीमांसाओं में आत्मज्ञान आवश्यक है) । यहाँ पूर्वमीमांसा को 'शास्त्रप्रमुख' (शास्त्र का
आरंभ) तथा प्रथमतंत्र कहा गया है । दोनों मीमांसाओं को मिलाकर 'कृत्स्नशास्त्र'
(संपूर्ण शास्त्र) कहा गया है ।

इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि शंकराचार्य प्रथम सूत्र की व्याख्या में 'अथ' शब्द का
अर्थ 'मीमांसा-दर्शन के अध्ययन या धर्मज्ञान के अनन्तर' भले ही न मानें किन्तु रामा-
नुज ने यही अर्थ स्वीकार किया है । डा० गंगानाथ झा ने दोनों दर्शनों की समानतन्त्रता
के पक्ष में निम्नलिखित तथ्य दिखाये हैं^२—(१) दोनों दर्शनों का मुख्य उद्देश्य बौद्धों
तथा अवैदिक दर्शनों से वैदिक-धर्म की रक्षा करना ही था । (२) कुमारिल आत्मा को
वेदान्तियों के समान नित्य, शरीरेन्द्रियबुद्धि से भिन्न तथा सर्वव्यापक मानते हैं । यह
शुद्ध चैतन्यरूप है । (३) कुमारिल वेदान्तियों के मोक्ष को भी न्यूनाधिक रूप में
स्वीकार करते हैं—आत्मज्ञान से ब्रह्मलीनता के रूप में परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ।^३
(४) कुमारिल श्लोकवार्तिक के आत्मवाद नामक प्रकरण के अंत में आत्मा के विषय में
सही ज्ञान के लिए वेदान्त के अध्ययन का परामर्श देते हैं । (५) शंकराचार्य भी ब्रह्मसूत्र
(४।१।८) के भाष्य में कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान के उदय के पूर्व में किये गये समस्त
विहित कर्म, चाहे पूर्वजन्म में अनुष्ठित हुए हों चाहे इस जन्म में, ज्ञान की प्राप्ति में आने-
वाली सभी बाधाओं को नष्ट करते हैं । इसलिए ब्रह्मज्ञान के लक्ष्य की प्राप्ति में ये कर्म
भी सहायक हैं ।

१. डा० गंगानाथ झा—Purva-Mimamsa in its Sources, p. 5.

२. उपरिवत्, पृ० ६-७ ।

३. तन्त्रवार्तिक, पृ० २४०-१ । श्लोकवार्तिक, संबन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक १०३-४ ।

शारीरकभाष्य के आरम्भ में शंकराचार्य जो धर्मजिज्ञासा से ब्रह्मजिज्ञासा को पृथक् रखने का संभव प्रयास करते हैं वह केवल वेदान्त-दर्शन के विशिष्ट रूप को स्थापित करने के लिए ही है, यह नहीं कि वे धर्मजिज्ञासा के विरोधी हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की विधियों पर आश्रित दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। यही कारण है कि सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में विधिभाग का प्रामाण्य-निरूपण करते समय विधियों को दो भाग में विभक्त किया है—अप्रवृत्त को प्रवृत्त करनेवाली कर्मविधि तथा अज्ञात विषय का ज्ञान करानेवाली ज्ञानविधि। दोनों की प्रामाणिकता का प्रदर्शन विधिभाग के अन्तर्गत करना यह सिद्ध करता है कि सायण भी दोनों के परस्पर पूरक होने में विश्वास रखते हैं। वस्तुतः वेदान्त-दर्शन ज्ञान से कितना भी प्रेम दिखाये, धार्मिक आचार-विचार का उल्लंघन या तिरस्कार नहीं कर सकता। यहाँ दोनों का समन्वय होता है। आधुनिक भाषा में कहें कि मीमांसा-दर्शन व्यावहारिक पक्ष का निरूपण करता है, वेदान्त-दर्शन सैद्धान्तिक पक्ष का। दोनों में वही संबंध है जो योग तथा सांख्य में है।

मीमांसा-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म, जो वैदिक विधि से (जिसे जैमिनि ने 'चोदना' कहा है) लक्षित होता है। धर्मज्ञान के लिए वेद को छोड़कर कोई दूसरा साधन या उपाय नहीं मिल सकता। इसलिए वेद के प्रामाण्य का निरूपण भी इस दर्शन में बहुत ही सबल युक्तियों से किया गया है। वेद के वाक्यों की व्याख्या के क्रम में मीमांसा में अनेक पद्धतियाँ तथा न्यायों का निर्देश हुआ है जो धर्मशास्त्रों के वाक्यों की व्याख्या में भी काम आते हैं।

मीमांसादर्शन का संक्षिप्त इतिहास

मीमांसा-दर्शन के विकास का धर्मशास्त्र के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। धर्मशास्त्रों की विधियों की व्याख्या मीमांसान्यायों की अपेक्षा रखती है, अतएव सभी धर्मशास्त्री मीमांसा के भी विद्वान् रहे हैं। मीमांसा के विकास में अन्य सभी दर्शनों के समान विरोधियों के आक्षेपों का भी बड़ा स्थान है। इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए भी इस दर्शन का विपुल साहित्य लिखा गया। मूलग्रंथ की टीकाओं का विकास बहुधा पूर्वपक्षाश्रित है—इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मीमांसा-दर्शन का प्रारम्भ जैमिनि के मीमांसा-सूत्र नामक ग्रंथ से माना जाता है। किन्तु जैमिनि ने ही अपने सूत्रों में ऐसे अनेक मीमांसकों का निर्देश किया है जो सम्भवतः जैमिनि के समान ही वैदिक विधियों के व्याख्याता रहे होंगे। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) वादरायण—इनका नामोल्लेख जैमिनि ने पांच स्थानों पर किया है। तर्कपाद के पंचम सूत्र में शब्दार्थसंबन्ध की नित्यता-विषयक इनके मत की चर्चा की गई है। पुनः मी० सू० ५।२।१९; ६।१।८; १०।८।४४ तथा ११।१।६४ में भी इनका मत निर्दिष्ट है। इन स्थानों में जैमिनि बहुत श्रद्धापूर्वक वादरायण का उल्लेख करते हैं तथा उनसे सहमत भी हैं। वादरायण ब्रह्मसूत्र के रचयिता के रूप में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं किन्तु जैमिनि के उक्त निर्देशों में इनके मीमांसक होने में हमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता। क्या दोनों वादरायण एक ही थे? या वे भिन्न थे? यदि हम मीमांसा और वेदान्त के सामंजस्य अथवा तारतम्य में विश्वास रखें तो दोनों की अभिन्नता समस्या नहीं हो

सकती। वस्तुतः दोनों सिद्धान्त अपने मूल-रूप में एक ही वस्तु के दो विभिन्न पक्षों के निर्देशक हैं, वेद की व्याख्या दोनों का लक्ष्य है। पूर्वमीमांसा जहाँ कर्म-विधियों का विवेचन करती है, उत्तरमीमांसा में ज्ञान-विधियों की व्याख्या या समन्विति हुई है। ब्रह्मजिज्ञासा के लिए शंकराचार्य मीमांसाज्ञान का आतन्त्र्य भले ही न मानें किन्तु रामानुजादि ने इसकी पुष्टि की है तथा यहो ब्रह्मसूत्र का स्वारस्य है। भाव यह है कि पूर्व-मीमांसा में प्रतिपादित वैदिक विधियों के सम्यक् अध्ययन के अनन्तर ही उत्तरमीमांसा का अध्ययन प्रवृत्त होता है। अतः बादरायण के मीमांसा तथा वेदान्ती दोनों होने में कोई विवाद नहीं। एक ही व्यक्ति परस्पर विरोधी सिद्धान्तों वाले शास्त्रों के भी लेखक रहे हैं और ये दोनों दर्शन तो एक दूसरे के पूरक ही हैं।

(२) बादरि—जैमिनि ने इनका निर्देश मी० सू० ३।१।३; ६।१।२७; ८।३।६ तथा ९।२।३३ में किया है। भावनाविवेक (खण्ड १, पृ० ४१) में मंडनमिश्र ने भी बादरि का एक सिद्धान्त दिया है कि शेषता केवल तीन ही पदार्थों में रहती है—द्रव्य, गुण तथा संस्कार में; अन्य किसी में यह नहीं रहती। ब्रह्मसूत्र (१।२।३०; ३।१।११; ४।३।७ तथा ४।४।१०) में भी बादरि के कतिपय विचारों का उल्लेख हुआ है। पुनः कात्यायन-श्रौतसूत्र (४।९६) में भी बादरि की चर्चा है। बादरायण के समान ये भी मीमांसक तथा वेदान्ती रहे होंगे—क्योंकि इस तथ्य का विरोधी कोई प्रमाण नहीं। डा० टी० आर० चिन्तामणि ने बादरि को बदर का पुत्र तथा बादरायण का पूर्वज माना है।^१

(३) अन्य मीमांसक—उक्त दोनों के अतिरिक्त जैमिनि ने ऐतिशायन (३।२।४३, ३।४।२४ तथा ६।१।६), कार्ष्णाजिनि (४।३।१७, ६।७।३६ में जैमिनि द्वारा विरोध-प्रदर्शन; ब्रह्मसूत्र ३।१।९; कात्यायन श्रौ० सू० १।१४४), लावुकायन (६।७।३८), कामुकायन (११।१।५७ तथा ११।१।६२), आत्रेय (४।३।१८, ६।१।२६ तथा ५।२।१८; बौधायन गृह्यसूत्र ३।९।६ में पदकार के रूप में निर्दिष्ट; बौधा० श्रौ० सू० २१।२१; ब्रह्मसूत्र ३।४।४४; महाभारत १३।१३७।३ इत्यादि) तथा आलेखन (६।५।१७) का निर्देश किया है।^२

(४) जैमिनि का मीमांसासूत्र—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैमिनि के आविर्भाव के पूर्व ही वैदिक विधियों की व्याख्या का संघटित प्रयास आरंभ हो चुका था तथा मीमांसादर्शन की आधारशिला प्रतिष्ठित हो चुकी थी। मीमांसा के पिछले लेखकों ने भी जैमिनि को प्रथम मीमांसक नहीं माना है। पार्थसारथिमिश्र (न्यायरत्नाकर, पृ० ८) कहते हैं कि ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, आदित्य, वसिष्ठ, पराशर, कृष्णद्वैपायन तथा जैमिनि अनुक्रम से मीमांसा के आचार्य बने। इसी प्रकार दूसरों ने भी मीमांसा की देवी परंपरा का पोषण किया है। भागवतपुराण (१२।६।५५) के अनुसार व्यास ने जैमिनि को सामवेदसंहिता पढ़ाई और जैमिनि ने इसे सुमन्तु को पढ़ाया। पंचतंत्र (२।३६) में कहा गया है कि जैमिनि की मृत्यु हाथी के कुचलने से हुई थी।

जैमिनि के समय के विषय में प्रो० जैकोबी का मत है कि वे दूसरी शताब्दी ई० से पहले नहीं रहे होंगे क्योंकि वे बादरायण के समकालीन थे जिन्होंने २ री शताब्दी में

१. डा० उमेश मिश्र, मीमांसाकुसुमांजलि, पृ० ८।

२. पतंजलि ने काशकृत्स्न तथा आपिशलि को भी मीमांसक माना है—

काशकृत्स्नी मीमांसा (महाभाष्य ४।१।३), आपिशलि मीमांसा (४।३।२)।

वर्तमान बौद्ध विद्वान् नागार्जुन के शून्यवाद से अपना परिचय दिखाया है।^१ ६० बी० कीथ का कथन है कि वे दूसरी शती ई० के बाद के नहीं हैं किन्तु उससे बहुत पहले के भी नहीं हो सकते।^२ जैकोबी का मत इस मान्यता पर आश्रित है कि नागार्जुन ही प्रथम शून्य-वादी थे। वास्तव में यह मान्यता ही गलत है। नागार्जुन शून्यवाद के महान् व्याख्याता थे किन्तु उनके पहले भी शून्य तथा विज्ञान की चर्चा होने लगी थी, कुछ उपनिषदों, अश्व-घोष की कृतियों तथा प्राचीन पालिवाङ्मय में भी इनकी चर्चा है।^३ नागार्जुन ने पहले से वर्तमान तथ्यों को ही अपनी कारिकाओं में अभिवद्ध किया है। अतः उक्त विचार असंगत है।

मीमांसा-सूत्र के प्रथम व्याख्याकार उपवर्ष हैं जो पतंजलि से पूर्व के माने गये हैं। पतंजलि शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के समकालीन (१५० ई० पू०) हैं। अतः जैमिनि २०० ई० पू० के बाद के तो हो ही नहीं सकते। यह इनके समय की उत्तर सीमा है। रामात्वामी अथर्व ने इन्हें ४०० ई० पू० में रखा है।^४

मीमांसा-सूत्र में १२ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में विशेष प्रकार के विषय (लक्षण) का विवेचन होने के कारण इसे 'द्वादशलक्षणी' भी कहते हैं। अध्यायों की विषयवस्तु इस प्रकार है—१. धर्म का प्रमाण, २. कर्मों के भेद, ३. शेषत्व, ४. कर्मों में प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव, ५. क्रम, ६. अधिकार, ७. सामान्यातिदेश, ८. विशेषातिदेश, ९. ऊह, १०. बाध तथा अभ्युच्चय, ११. सामान्य, तन्त्र (केन्द्रीकरण), १२. असामान्य, आवाप (विकेन्द्रीकरण)। इस प्रकार सामान्यतः धर्म-विषयक जिज्ञासा, मनुष्य का कर्तव्य तथा इससे प्रत्यक्षतः या परोक्षतः संबद्ध विवरणों का मीमांसासूत्र में विवेचन है। इस ग्रन्थ के तृतीय, षष्ठ तथा दशम अध्यायों में प्रत्येक में छह पाद हैं, शेष अध्यायों में ४ पाद हैं। कई सूत्रों की बहुधा आवृत्ति भी हुई है यथा—'लिङ्गदर्शनाच्च' सूत्र ३० बार आया है किन्तु प्रत्येक बार प्रकरण-भेद से अर्थभेद है। मीमांसा के विषयों को लौकिक दृष्टान्त देकर समझाया गया है।

लोगों का विश्वास है कि मीमांसा-सूत्र में चार अतिरिक्त अध्याय हैं जिन्हें संकर्ष-काण्ड कहा जाता है। इसका प्रकाशन काशी से १८९४ ई० में हुआ था जिसमें जैमिनिसूत्र के १३-१६ अध्याय प्रकाशित हुए। इसमें भास्करभट्ट-रचित भाट्टचन्द्रिका नामक व्याख्या भी है जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसकी एक अन्य टीका देवस्वामी द्वारा लिखी गई थी जो अभी तक अप्रकाशित है। दोनों टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ही संकर्ष-काण्ड की प्रामाणिकता निरूपित हो सकती है। वैसे संकर्ष-काण्ड का उल्लेख रामानुज के श्रीभाष्य (३।३) में भी हुआ है। शबरस्वामी ने भी मीमांसासूत्र १०।४।३२ तथा १२।२।११ में 'संकर्षं वक्ष्यते (वक्ष्यति)' कहकर उसका निर्देश किया है—इसमें प्रथम निर्देश उपलब्धि संकर्ष-काण्ड के मुद्रित संस्करण में होती है। संकर्ष-काण्ड के सम्पादक

१. Jacobi—Date of Indian Philosophical Systems, Journal of American Oriental Society, Vol. XXXIII.

२. A. B. Keith—Karma-Mimamsa.

३. पं० गोपीनाथ कविराज—रत्नप्रभा-हिन्दी अनुवाद की भूमिका पृ० ३।

४. History of Philosophy—Eastern and Western, Vol. I p. 258.

ने इसे वेद का उपासना-काण्ड माना है जिसकी पुष्टि में रामानुज का विचार भी दिया गया है। डा० गंगानाथ झा ने प्रमाणित किया है कि रामानुज द्वारा निर्दिष्ट 'उपासना-काण्ड' इस संकल्प-काण्ड से भिन्न रहा होगा क्योंकि इसमें कहीं भी उपासना का संकेत नहीं मिलता।^१

जैमिनि ने संभवतः तीन अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे—छान्दोग्यानुवाद (तन्त्रवार्तिक १।३।२ में चर्चित) श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र।^२

(५) वृत्तिकार (उपवर्ष, बोधायन तथा भवदास)—जैमिनि के पश्चात् और शबर के पूर्व का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु कुछ वृत्तिकारों के नाम मिलते हैं जिन्होंने सूत्रों पर अपनी वृत्तियाँ लिखी थीं। शबरस्वामी ने अत्यन्त आदर के साथ वृत्तिकार उपवर्ष का नाम लिया है। तर्कपाद के पंचम सूत्र में वृत्तिग्रन्थ का जो उल्लेख शबर ने किया है वह उपवर्ष की वृत्ति का ही निर्देशक माना जाता है। शबर के समान शंकराचार्य ने भी उपवर्ष को 'भगवान्' के श्रद्धेय शब्द से विभूषित किया है। एक अन्य वृत्तिकार बोधायन हुए हैं जिनकी वृत्तिपर, कहा जाता है, रामानुज ने अपने श्रीभाष्य को अवलम्बित किया। कुम्पूस्वामी ने बोधायन तथा उपवर्ष को समान व्यक्ति सिद्ध किया है किन्तु 'प्रपञ्चहृदय' में उन दोनों के पृथक् निर्देश से इनका पार्थक्य स्पष्ट है। इन दोनों को ईसा पूर्व माना जाता है।

एक अन्य वृत्तिकार भवदास के मत का उल्लेख कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक (१।६६) में किया है। प्रपञ्चहृदय के निर्देशानुसार ये शबर के पूर्ववर्ती थे।^३ पार्थसारथिमिश्र ने श्लोकवार्तिक (१।३३) की व्याख्या (न्यायरत्नाकर) में इनका नाम लिया है। भवदास के मत में धर्मजिज्ञासा-सूत्र में 'अथ' तथा 'अतः' दोनों शब्दों को एक साथ रखना चाहिए जिससे आनन्तर्य का अर्थ हो सके। पुनः चतुर्थ सूत्र की व्याख्या करते हुए कुमारिल ने भवदास के मत का उल्लेख किया है कि वे इसमें योग-विभाग करते हैं—(i) सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्। (ii) अनिमित्तं विद्यमानो-पलम्भनत्वात्। शबर, कुमारिल तथा उनके अनुयायी इस मत का खण्डन करते हैं।

(६) शबरस्वामी—मीमांसासूत्रों पर सर्वप्रथम पूर्ण व्याख्या जो संप्रति उपलब्ध है वह शबर की है। दुर्भाग्यवश इनके स्थान, समय तथा व्यक्तिगत जीवन के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इनके भाष्य के कुछ संकेतों के आधार पर डा० गंगानाथ झा इन्हें कश्मीर या तक्षशिला का निवासी मानते हैं (अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० १) किन्तु शबर द्वारा किये गये कतिपय लौकिक उदाहरणों से डा० उमेश मिश्र सिद्ध करते हैं कि ये मिथिला की प्रथाओं और रीतियों से परिचित थे (द्रष्टव्य—मीमांसाकुसुमाञ्जलि, पृ० १७-२०)। ऐसा कहा जाता है कि इनका मूल नाम आदित्यदेव था जिसे उन्होंने जैनों के भय से शबर के रूप में बदल कर स्वयं वनवासी का वेश भी रख लिया था।

इनके भाष्य में कात्यायन, वार्तिककार (१०।८।४), मनु (१।१।२), पाणिनि, पिङ्गल, स्फोटवादी वैयाकरण (१।१।५) आदि निर्दिष्ट हैं। किन्तु इनसे इनके काल-

१. डा० गंगानाथ झा, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १२।

२. A. B. Keith—Karma Mimamsa, p. 4-5.

३. डा० उमेश मिश्र—मीमांसाकुसुमाञ्जलि, पृ० १६।

निर्धारण में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। इनके विषय में अनुश्रुति से एक श्लोक प्रसिद्ध है।^१ जिसमें इनकी चार पत्नियों से छह पुत्रों के जन्म का उल्लेख है—ब्राह्मणपत्नी से बराहमिहिर, क्षत्रियपत्नी से भर्तृहरि तथा विक्रम, वैश्यपत्नी से हरिचन्द्र (वैद्य) तथा शकुं, शूद्रपत्नी से अमर। डा० गंगानाथ झा बराहमिहिर की निर्धारित तिथि (४०० ई०) के आधार पर इनका समय इसलिये चौथी शताब्दी ई० में रखते हैं। किन्तु यह आनुमानिक ही है, क्योंकि इस प्रकार के श्लोकों की प्रामाणिकता प्रायः संदिग्ध होती है। संभवतः ये कुछ पूर्व ही (२०० ई० में) वर्तमान रहे होंगे।^२

शावरभाष्य की शैली बहुत ही सरल तथा शास्त्रोपयोगी है। इसमें शवर ने स्थान-स्थान पर लौकिक व्यवहारों की चर्चा की है जिनसे वैदिक विधियों में भी लोकव्यवहार की उपयोगिता सिद्ध होती है। शवर के अपने शब्दों से सिद्ध होता है कि उन्होंने मीमांसा के संकर्षकाण्ड पर भी भाष्य लिखा था किन्तु संप्रति यह अनुपलब्ध है।

संपूर्ण शावरभाष्य के तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं—(१) कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी से, (२) काशी के विद्याविलास प्रेस से तथा (३) आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से। डा० गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद तीन खंडों में बड़ौदा (गायकवाड संस्कृत सीरीज) से प्रकाशित है। केवल तर्कपाद का एक सुसंपादित संस्करण मद्रास तथा चौखम्बा (काशी) से भी निकला है। इसमें बृहती तथा ऋजुविमला भी है।

(७) भर्तृमित्र—कुमारिल ने इनके मत का उल्लेख करके खण्डन भी किया है। पार्थसारथिमिश्र ने कहा है कि भर्तृमित्र ने अनेक उपसिद्धान्त प्रविष्ट करके मीमांसा-दर्शन को नास्तिक-दर्शन बना दिया था। जैसे उन्होंने कहा था कि नित्य तथा निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से कोई फल नहीं मिलता। यह अपसिद्धान्त है। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० ७६३) में तथा जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० २२६) में भर्तृमित्र का खण्डन किया है कि कुछ पण्डितमन्य (जैसे भर्तृमित्र) श्रोत्र के संस्कार को ही श्रोत्रेन्द्रिय समझने की भूल करते हैं। यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ६) तथा मुकुलभट्ट की अभिधावृत्ति मातृका (पृ० १७) में भी इनकी चर्चा है। अतः इनका समय कुमारिल से पूर्व सिद्ध होता है।

(८) कुमारिलभट्ट—इनका दूसरा नाम तूतात भट्ट है जिससे इनके मत को तीता-तित-मत भी कहा गया है। ये मीमांसा के बहुत बड़े विद्वान् थे। अपने काल में व्यापक प्रसार पाये हुए बौद्धों के सिद्धान्तों का सबल खंडन इन्होंने अपने ग्रंथों में किया था। शंकरदिग्विजय (सर्ग ७) में तथा तिब्बती परम्पराओं में कुमारिल का बौद्ध दार्शनिक धर्म-कीर्ति से शास्त्रार्थ होने की अनेक कथाएँ अंकित हैं। बौद्ध वेप में कुमारिल ने नालन्दा में बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन करके बाद अपनी युक्तियों से अपने गुरु को ही परास्त किया था जिसके प्रायश्चित्त-स्वरूप प्रयाग में तुपाग्नि में जलकर मृत्यु का वरण किया था। उसी अवस्था में शंकराचार्य ने उनके दर्शन किये थे। कुमारिल ने तन्त्रबल से भी अनेक बौद्ध

१. ब्राह्मण्यामभवद्बराहमिहो ज्योतिर्विदामग्रणी

राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत् ।

वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती

शूद्रायाममरः पडेव शवरस्वामिद्विजस्यात्मजाः ॥

२. Hist. of Phil.—Eastern and Western, Vol. I, p. 258.

विद्वानों का विध्वंस किया था—ऐसी जनश्रुति भी प्राप्त होती है। जो कुछ भी हो, सभी आस्तिक दार्शनिकों में कुमारिल बौद्ध-ग्रंथों के सर्वाधिक विद्वान् थे—ऐसा अनेक ग्रंथों से प्रतीत होता है। इस विषय पर शोध की अपेक्षा है।

कुमारिल मूलतः उत्तरी बिहार के निवासी थे; किन्तु भारत की व्यापक यात्रा इन्होंने की थी। उस समय दक्षिणी बिहार बौद्ध-धर्म का गढ़ था तथा उत्तरी बिहार में आस्तिक-दर्शन पल्लवित-पुष्पित हो रहे थे। यह सातवीं शताब्दी का काल था। धर्मकीर्ति (६३५ ई०) से शास्त्रार्थ होने के कारण कुमारिल सातवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं। भवभूति जो कन्नौज के यशोवर्मा (७३० ई०) के सभापण्डित थे, अपने को कुमारिल का शिष्य बतलाते हैं। वाक्यपदीय का उल्लेख भी कुमारिल में मिलता है। एस० कुम्पु-स्वामी शास्त्री के अनुसार कुमारिल का समय ६००-६६० ई० है^१ तथा डा० गंगानाथ झा इन्हें प्रभाकर (६००-६५० ई०) का कनीय समकालिक मानते हैं।^२

इन्होंने शारदभाष्य के विभिन्न अंशों पर विभिन्न शैलियों में तीन व्याख्याएँ लिखी थीं १. श्लोकवार्तिक (प्रथम अध्याय-प्रथम पाद पर), २. तन्त्रवार्तिक (१।३ से अध्याय ३ तक) तथा ३. टुप्टीका (४-१२ अध्यायों पर)।

श्लोकवार्तिक शारदभाष्य के ५थम पाद (तर्कपाद) पर श्लोकबद्ध व्याख्या है। बौद्ध-सिद्धान्तों का खण्डन प्रत्येक दार्शनिक विषय के विवेचन के क्रम में किया गया है। श्लोक-वार्तिक में कुमारिल के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं^३—(क) मोक्ष अभावात्मक (बन्ध के कारण के अभाव से उत्पन्न) है। कृतपूर्व कर्मों का फलानुभव करने के अनन्तर उन कर्मों का शक्तिनाश हो जाने से मोक्ष होता है। अभावात्मक होने के कारण ही यह नित्य है। इसलिए किसी कर्म से यह उत्पन्न नहीं हो सकता—ज्ञानजन्य मोक्ष नहीं हो सकता।^४ मोक्ष प्राप्ति के लिए काम्य कर्मों का त्याग किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्मों का उपादान कृतपूर्व पापकर्मों के प्रायश्चित्त के लिए अपेक्षित है। (ख) आत्मा स्व-प्रकाश है (आत्मवाद १४२)। (ग) काल एक, विभु तथा नित्य है। (घ) मृत्यु के समय से लेकर पूर्वजन्मपर्यन्त रहने वाला तथा कथित आतिवाहिक शरीर (सूक्ष्म शरीर) कल्पना मात्र है।^५

तन्त्रवार्तिक में मुख्यतः गद्य-शैली में व्याख्या की गई है जिसमें कुमारिल अन्य दर्शन-सम्प्रदायों के विषय में अपना पांडित्य दिखाते हैं। इसमें वे मीमांसा-दर्शन के विषय में कहते हैं कि यह वेदों तथा लौकिक अनुभव पर एवं इन पर आश्रित प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर अवलंबित है। उन्होंने इसमें धर्मशास्त्र के अतिक्रमण का निर्देश किया है जैसे मथु। तथा अहिच्छत्र की ब्राह्मणियों का मद्यपान करना, उत्तर के लोगों का पत्नी, बच्चों तथा मित्रों के साथ एक ही थाली में खाना इत्यादि वेदों के समान ही आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा परमाणु को इन्होंने नित्य माना है (पृ० २३६)। द्रविड़ भाषाओं से अपना

१. महा० डा० कुम्पुस्वामी—ब्रह्मसिद्धि की भूमिका।

२. डा० गंगानाथ झा—पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १७-८।

३. मीमांसाकुसुमांजलि, पृ० २४-५।

४. श्लोकवार्तिक, पृ० ६७०-७१।

५. उपरिवत्, पृ० ७०४।

परिचय इन्होंने इतना दिखाया है कि कुछ लोगों ने इन्हें द्रविड कह दिया है। शवर द्वारा प्रयुक्त 'आन्ध्र' शब्द के स्थान पर द्रविड के प्रयोग का परामर्श ये देते हैं।

शब्द की अभिव्यक्ति पर कुमारिल का शवर से मतभेद है (श्लोकवार्तिक, पृ० ७८६) तथा तंत्रवार्तिक में वे आक्षेप करते हैं कि शवर ने छह सृष्टों की व्याख्या छोड़ दी है (पृ० ९१५-१६)।

डुप्-टीका शवर-भाष्य की अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या है जिससे इसमें कुमारिल को अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करने का अवकाश नहीं मिला है। दोनों वार्तिक-ग्रंथों में कुमारिल की मौलिकता दर्शनीय है। कई कठिन स्थलों की व्याख्या में उन्होंने नवीन मार्गों का उद्घाटन किया है। [प्रकाशन—श्लोकवार्तिक—(क) पार्थसारथिमिश्र की न्यायरत्नाकर-टीका के साथ चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस (संपूर्ण)। (ख) सुचरित मिश्र की काशिका-टीका के साथ, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज (अपूर्ण)। (ग) भट्ट उम्बेक की तात्पर्यटीका के साथ, मद्रास विश्व वि० (अपूर्ण)। तंत्रवार्तिक—बनारस संस्कृत सीरीज तथा आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला (पूना) से। दोनों वार्तिकों का अंग्रेजी अनुवाद, डा० गंगानाथ झा कृत (विश्वविद्यालयिका इंडिका से)। डुप्टीका—बनारस तथा पूना की उक्त ग्रंथमालाओं में।]

श्लोकवार्तिक पर उक्त तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। तंत्रवार्तिक पर निम्नलिखित ९ टीकाओं की सूचना डा० उमेश मिश्र ने दी है—(१) सोमेश्वरभट्ट कृत न्यायसुधा (राणक, सर्वोपहारिणी) चौखम्बा से प्रकाशित। (२) कमलाकरभट्ट (रामकृष्णभट्ट के पुत्र) कृत भावार्थ। (३) गोपालभट्ट कृत मिताक्षरा, (४) परितोष मिश्र कृत अजिता, (५) अन्नभट्ट कृत सुबोधिनी (६) गंगाधर मिश्र कृत न्यायपारायण (७) पार्थसारथि-मिश्र कृत टीका (?) (८) मंडनमिश्र कृत टीका (?) (९) भवदेवमिश्र कृत टीका। पार्थसारथि ने डुप्टीका पर एक विस्तृत व्याख्या लिखी जो सरस्वतीभवन (बनारस) से अंशतः प्रकाशित है।

कुमारिलभट्ट की प्रसिद्धि मीमांसादर्शन के एक संप्रदाय की स्थापना के लिए अत्यधिक है।

(६) प्रभाकर मिश्र—कुमारिल के समान प्रभाकर भी एक संप्रदाय विशेष के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका मत गुरुमत के नाम से भी विख्यात है। इस नामकरण तथा कुमारिल से इनके संबन्ध के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित रही हैं। इन्होंने शावरभाष्य पर 'बृहती' नामक व्याख्या लिखी है जो वास्तव में टीका है—कुमारिल के समान शवर का खण्डन इसमें नहीं है। कुमारिल यत्र-तत्र प्रभाकर के मत का खण्डन करते प्रतीत होते हैं, उनकी शैली भी प्रभाकर से वाद की लगती है—इस आधार पर गंगानाथ झा ने प्रभाकर को पूर्ववर्ती माना है। डा० झा का मत कीथ तथा पशुपतिनाथ शास्त्री को भी मान्य है (= प्रभाकर ६००-६५० ई०), किन्तु मद्रास के कुम्पूस्वामी शास्त्री प्रभाकर को भी कनीय समवर्ती मानकर इनका समय ६१०-६९० ई० रखते हैं जबकि कुमारिल का समय ६६० ई० तक ही है।

जो भी हो, इन दोनों विद्वानों ने मीमांसादर्शन से जैमिनि तथा शवर के भी नाम हटाकर, दो विशिष्ट संप्रदायों (गुरुमत तथा भाट्टमत) की स्थापना की तथा समस्त परवर्ती विद्वानों ने इन्हीं का अनुसरण किया। जिन टीकाकारों ने जैमिनिसूत्रों की साक्षात्

व्याख्या भी की, वे भी इन दोनों में से किसी-न-किसी संप्रदाय से संबद्ध थे। मुरारिमिश्र ने १५वीं शताब्दी में एक तृतीय मार्ग चलाया किन्तु ये प्रसिद्ध नहीं हो सके।

प्रभाकर ने शाबर-भाष्य पर बृहती या विवरण-टीका के अतिरिक्त एक लक्ष्मी-टीका भी लिखी थी। शालिकनाथ मिश्र ने इन दोनों पर क्रमशः ऋजुविमला तथा दीपशिखा नामक टीकाएँ लिखीं। बृहती का ऋजुविमला के साथ तर्कपाद मात्र का प्रकाशन मद्रास एवं काशी से हुआ है। कुमारिल का प्रभाकर से कई विषयों पर मतभेद है।

(१०) मण्डनमिश्र—भाट्ट-संप्रदाय के मीमांसकों में मण्डनमिश्र का नाम अग्रगण्य है। शंकरदिग्विजय के अनुसार शंकराचार्य से इनका शास्त्रार्थ हुआ था तथा ये पराजित हो गये थे। शंकर ने इन्हें अपने मत में दीक्षित करके सुरेश्वराचार्य नाम दे दिया। किन्तु मण्डन-सुरेश्वर की अभिन्नता पर अनेक विद्वानों को अभी शंका है। परम्परानुसार ये माहिष्मती (बिहार के सहर्षा जिले में महिषी) के निवासी थे।^१ इन्हें कुमारिल का शिष्य माना गया है। अतः इनका समय ७०० ई० हो सकता है। (गंगानाथ झा के अनुसार ६१५-६९५ ई०)। इनकी निम्नांकित कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—१. विधिविवेक—इसमें विधिलिङ् का नवीन अर्थ किया गया है जिसमें मीमांसा के दोनों मतों की समीक्षा है। इस पर वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका टीका लिखी थी। २. भावनाविवेक—भावना (क्रिया) की समीक्षा से संबद्ध इस ग्रंथ पर उम्बेक ने टीका लिखी थी। उक्त दोनों ग्रंथ प्रकाशित हैं। ३. विश्रमविवेक—यह पञ्च ख्यातियों का विवेचन-परक ग्रन्थ है जो मद्रास से प्रकाशित है (कुप्पूस्वामी द्वारा सम्पादित)। ४. मीमांसानुक्रमणिका—इस ग्रंथ में पूर्वमीमांसा के अधिकरणों का श्लोकबद्ध निरूपण हुआ है। गंगानाथ झा ने इस पर मीमांसामण्डन नामक टीका लिखी है (चौखम्बा से प्रकाशित)। (५) स्फोट-सिद्धि—वर्णवादियों के आक्षेपों के विरुद्ध स्फोटतत्त्व की सिद्धि इसमें हुई है। वेदान्त में भी मण्डनमिश्र ने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे हैं—१. ब्रह्मसिद्धि (कुप्पूस्वामी द्वारा मद्रास से प्रकाशित), २. नैष्कर्म्यसिद्धि (बम्बई से प्रकाशित, संपादक—प्रो० हिरियण्णा), ३. वार्तिक—बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर शंकरभाष्य की व्याख्या।

मण्डनमिश्र की कृतियाँ अत्यन्त जटिल हैं किन्तु सौभाग्यवश सबों पर अच्छी टीकाएँ प्राप्त हैं।

(११) उम्बेक (७५० ई०)—कुछ लोगों ने मण्डन को^२ या भवभूति को^३ उम्बेक माना है किन्तु यह भ्रामक है।^४ इन्होंने श्लोकवार्तिक पर तात्पर्य-टीका लिखी है जो मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। इनका दूसरा ग्रंथ मण्डन के भावनाविवेक की टीका है जो सरस्वतीभवन (काशी) से प्रकाशित है।

१. माहिष्मती की पहचान कुछ लोग मध्यप्रदेश में भी करते हैं।

२. विद्यारण्य, शंकरदिग्विजय ७।११७—

उम्बेक इत्यभिहितस्य हि तस्य लोकैः,

उम्बोत बान्धवजनैरभिधीयमानः ॥

३. (क) चित्सुखी-व्याख्या (पृ० २६५) में प्रत्यग्रूप भगवत् की उक्ति—भवभूतिरुम्बेकः ।

(ख) उम्बेकरचित श्लोकवार्तिकव्याख्याने 'ये नाम केचिदिह' इत्यादि मंगलश्लोक ।

४. मीमांसाकुसुमांजलि, पृ० ३३ ।

(१२) सालिकनाथ मिश्र—इन्होंने प्रभाकर की बृहती पर ऋजुविमला तथा लघ्वी पर दीपशिखा नामक व्याख्याएँ लिखी हैं। इनकी तीसरी पुस्तक का नाम प्रकरणपंचिका है जिसमें प्रथम दोनों पुस्तकों को भी पंचिका ही कहा गया है। अतः इन्हें पंचिकाकार कहा गया है। प्रकरणपंचिका में प्रभाकर-मत के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इन सभी ग्रंथों की भाषा बहुत सरल है। प्रकरणपंचिका में (पृ० १७८) मण्डन के विधिविवेक का उद्धरण देने तथा स्वयं वाचस्पतिमिश्र द्वारा उद्धृत होने से इनका काल ८०० ई० रखा जा सकता है।

(१३) वाचस्पतिमिश्र (प्रथम)—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की भागती, सांख्यतत्त्व-कौमुदी, तात्पर्यटीका इत्यादि अनेक ग्रंथों के समर्थ प्रणेता षड्दर्शनीवल्लभ वाचस्पति मिश्र ने मीमांसादर्शन में मण्डन के विधिविवेक पर सुप्रसिद्ध न्यायकणिका-टीका लिखी थी। इसमें उन्होंने सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, पंचख्याति, तमम इत्यादि विभिन्न विषयों पर विचार किया है। मीमांसाविषयक इनका दूसरा ग्रंथ तत्त्वबिन्दु है जिसमें विभिन्न मतों से शाब्दबोध का विवेचन किया गया है। इन्होंने स्वयं भाट्टपक्ष का आश्रय लिया है। वाचस्पति सर्वतंत्रस्वतंत्र लेखक थे। न्यायसूचीनिबंध में निर्दिष्ट तिथि के अनुसार इनका समय ८४१ ई० है।

(१४) सुचरितमिश्र—इन्होंने श्लोकवार्तिक पर काशिका-टीका लिखी जो पार्थसारथि के न्यायरत्नाकर से भी कहीं-कहीं अधिक प्रांजल है। त्रिवेन्द्रम ग्रंथमाला में यह आंशिकरूप से प्रकाशित हुई है। इनका समय १२ वीं शताब्दी ई० है।

(१५) पार्थसारथिमिश्र—कुमारिल तथा प्रभाकर के बाद मीमांसादर्शन में इन्हीं का महत्त्व है। ये भाट्टमत के समर्थ व्याख्याता हैं। इनका समय १० वीं शताब्दी ई० में रखा जा सकता है। इनकी लिखी चार पुस्तकें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(क) न्यायरत्नमाला—मीमांसा के महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखा गया यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसमें अध्ययनविधि, स्वतंत्रप्रामाण्य, विधि-निर्णय, व्याप्ति, वाक्यार्थ इत्यादि विषयों का रोचक तथा पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है। रामानुजाचार्य (१८ वीं शताब्दी) ने इस पर न्यायकरत्न-टीका लिखी। (ख) तन्त्ररत्न—यह कुमारिल की टिप् टीका की व्याख्या होने पर भी शांकरभाष्य की व्याख्या करता है। (ग) शास्त्रदीपिका—यह मीमांसाग्रंथों के अधिकरणों की व्याख्या है जिसमें कुमारिल के मत का आश्रय लिया गया है। पूरे अधिकरण का पद्य सारांश में देकर पुनः गद्य में व्याख्या की गई है। यह पद्धति बाद में बहुत लोकप्रिय हो गयी। कुमारिल-संप्रदाय के सर्वांगीण विवेचन से पूर्ण इस ग्रंथ का बहुत प्रचार है। इस पर सोमनाथ, अप्यख्यदीक्षित, राजचूडामणि दीक्षित, दिनकरभट्ट, कमलकरभट्ट, नारायणभट्ट आदि १४ विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं। (घ) न्यायरत्नाकर—यह श्लोकवार्तिक की टीका है जो आधार ग्रंथ के साथ चौखम्बा से प्रकाशित हुई थी। इसमें विरोधी मतों का खण्डन भी सफलतापूर्वक किया गया है।

(१६) भवनाथमिश्र (११ वीं शताब्दी)—इनका दूसरा नाम भवदेवमिश्र भी है। ये प्रभाकर-सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान् थे। इन्हें नैयायिक शंकरमिश्र (१५ वीं शताब्दी) के पिता भवदेव मिश्र से भिन्न समझना चाहिए यद्यपि वे भी मीमांसक थे। भवनाथ की एकमात्र कृति जो प्राप्त है, वह नयविवेक है। यह मीमांसासूत्रों पर स्वतंत्र

टीका है जिसमें सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या है^१, परमत का खण्डन या साहित्यिक-सौन्दर्य का उपादान नहीं किया गया है। इनके ग्रंथ का उल्लेख चन्द्र नामक मीमांसक (११ वीं शताब्दी), मुरारिमिश्र द्वितीय (१५ वीं शताब्दी) तथा प्रत्यग्रूप भगवान् (१४ वीं शताब्दी) ने किया है। इस पर प्रायः ४ टीकाएँ प्राप्त होती हैं।^२

इसी शताब्दी में (११ वीं) गुरुमताचार्य चन्द्र (मीमांसासूत्रों पर न्यायरत्नाकर टीका तथा अशुतथिन्दु नामक स्वतंत्र ग्रंथ के लेखक) हुए जिन्होंने प्रभाकर सम्मत आठ पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, संख्या, समवाय, सादृश्य तथा शक्ति) के अतिरिक्त क्रम, उपकार तथा संस्कार को भी स्वीकार किया है। भाट्टमत के अनुयायी भवदेवभट्ट भी इस काल में हुए जिन्होंने धर्मशास्त्र पर अनेक ग्रंथों के अतिरिक्त तन्त्रवार्तिक पर तौता-तिमत्तिलक नामक टीका लिखी। इस काल के एक अन्य प्रसिद्ध मीमांसक सोमेश्वर-भट्ट (उपनाम-राणक) थे जिन्होंने तन्त्रवार्तिक पर सर्वोपकारिणी (या राणक) नामक एक बड़ी विस्तृत व्याख्या लिखी जो चौखन्वा ग्रंथमाला में प्रकाशित है। परितोपमिश्र (१२ वीं शताब्दी) ने भी तन्त्रवार्तिक पर अजिता-टीका लिखी जो बहुत सरल है।

(१७) मुरारिमिश्र-द्वितीय—मीमांसा-दर्शन के इतिहास में तृतीय संप्रदाय के प्रवर्तक मुरारिमिश्र ने मीमांसासूत्र की व्याख्या लिखी थी जो संप्रति अंशरूप में प्राप्त है। इनके पृथक् मत का कारण इनका प्रामाण्यवाद-विवेचन है। महान् नैयायिक होने के कारण इनका मत इस प्रसंग में न्याय से भी ईषत् प्रभावित है। शालिकनाथ तथा चन्द्र का निर्देश करने तथा स्वयं गंगेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान (१३ वीं शताब्दी) के द्वारा उल्लिखित होने के कारण इनका समय १२ वीं शताब्दी में रखा जा सकता है।

(१८) हलायुधभट्ट—लक्ष्मणसेन (११७०-१२०० ई०) के सभापंडित हलायुध ने सर्वस्व नामवाले अनेक ग्रंथों की रचना की। इनकी प्रसिद्ध मीमांसा-कृति 'मीमांसा-शास्त्र-सर्वस्व' है जो जैमिनि-सूत्रों की अधिकरणाश्रित व्याख्या है। डा० उमेशमिश्र ने इसका संपादन करके बिहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका में चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद तक प्रकाशित कराया था। इस ग्रंथ में शास्त्रदीपिका या तन्त्रवार्तिक की यथावत् प्रतिकृति है, जिससे इसमें मौलिकता का अभाव है।

मीमांसा-दर्शन में १४-१५ वीं शताब्दी में मिथिला एवं दक्षिणभारत में कई महत्त्वपूर्ण योगदान हुए। विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध विद्वान् वेदान्तदेशिक (जन्म १२६९ ई०) ने तर्कपाद की पथवद्ध व्याख्या मीमांसापादुका तथा उसके बाद की गद्यात्मक व्याख्या सेश्वरमीमांसा के नाम से की। माधवाचार्य (१२९७-१३८६ ई०) इस काल के अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्होंने वैदिकमार्ग की पुनः प्रतिष्ठा विजयनगरनरेश बुक्कराय के संरक्षण में की। इन्होंने मीमांसा-दर्शन में पद्यात्मक जैमिनीयन्यायमाला तथा उसकी गद्यरूप टीका विस्तर भी स्वयं लिखी। इसमें अधिकरणों की व्याख्या है। बंबई, पूना तथा कलकत्ता से इसके कई संस्करण प्रकाशित हैं। यह बहुत लोकप्रिय ग्रंथ है, क्योंकि इसमें मीमांसा के दोनों संप्रदायों का मत दिया गया है।

१. विहाय विस्तरं शब्दसौन्दर्य-परनिन्दने।

व्यज्यते भवनाथेन तत्त्वं नयविवेकतः ॥ (मंगलश्लोक)

२. मीमांसाकुसुमांजलि, पृ० ४३-४।

प्रभाकर-मत के मीमांसक भट्ट विष्णु (१४ वीं शताब्दी) ने तर्कपाद पर नयतत्त्व-संग्रह नामक टीका लिखी। काव्यप्रदीप के प्रसिद्ध लेखक गोविन्दठक्कुर (जन्म १४७८ ई०) ने अधिकरणमाला नामक पुस्तक लिखी। इनके पुत्र देवनाथ ठक्कुर ने भी अधिकरणकौमुदी के रूप में उन अधिकरणों की व्याख्या लिखी जो धर्मशास्त्र के नियमों की व्याख्या में उपयुक्त हैं। रामकृष्णभट्ट ने काशी में रहकर शास्त्रदीपिका पर, सम्प्रति सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्याग्रंथ, सिद्धान्तचन्द्रिका (रचनाकाल १५४३ ई०) की रचना की। यह तर्कपाद मात्र पर ही प्राप्त है। रघुनाथ-भट्टाचार्य (१६ वीं शताब्दी) का मीमांसारत्न प्रमाण, प्रमेय तथा विधि का विवेचन करता है। तर्कसंग्रहकार प्रसिद्ध अक्षभट्ट (१६ वीं शताब्दी) ने मीमांसा के क्षेत्र में तन्त्रवार्तिक पर सुबोधिनी-टीका, सोमेश्वर की न्यायसुभा पर राणकोज्जोविनी-टीका तथा ५४ श्लोकों का राणकभावनाकारिकाविवरण लिखा। इसी शताब्दी में मीमांसा, ज्यौतिष, आयुर्वेद तथा व्याकरण के विद्वान्^१ वरदराज प्रभाकर-मत के मीमांसक थे, जिन्होंने भवनाथ के नयविवेक पर अर्थ-दीपिका (दीपिका, वरदराज) नामक टीका लिखी थी।

(१६) अप्पय्यदीक्षित—संस्कृत वाङ्मय के चतुरस्र विद्वान् तथा विभिन्न शास्त्रों में शताधिक ग्रन्थों के लेखक अप्पय्य दीक्षित (१५२०-१५९३ ई०) ने निम्नलिखित ग्रंथ मीमांसा के क्षेत्र में लिखे थे—१. विधिरसायन—भाट्टमत का पचवद्ध विवरण देनेवाले इस ग्रंथ की उन्होंने स्वयं व्याख्या भी लिखी (चौखम्बा से प्रकाशित), २. उपक्रम-पराक्रम, ३. वादनक्षत्रमाला, ४. मयूखावली-शास्त्रदीपिका की व्याख्या, ५. चित्र-पट, ६. धर्ममीमांसापरिभाषा। भट्टोजिदीक्षित ने भी अप्पय्य दीक्षित से वेदान्त का अध्ययन किया था।

अप्पय्य दीक्षित के समकालिक विजयीन्द्रतीर्थ ने न्यायाध्वदीपिका, मीमांसा-नयकौमुदी (दोनों जैमिनिमूत्रों की व्याख्या) तथा उपसंहारविजय नामक ग्रंथ लिखे। एक दूसरे विद्वान् वेंकटेश्वर दीक्षित ने टुपटीका पर वार्तिकाभरण नामक टीका लिखी। नारायणभट्ट-प्रथम (१५८७ तथा १६५६ के मध्य) ने तन्त्रवार्तिक पर निबन्धन-व्याख्या के अतिरिक्त मानमेयोदय नामक ग्रन्थ का प्रमाण-खण्ड लिखा जिसे नारायण-पण्डित (१७ वीं शताब्दी) ने प्रमेय-खण्ड लिखकर पूरा किया। यह ग्रंथ अड्यार (मद्रास) से प्रकाशित है। लौगाक्षि-वंश के भास्कर नामक विद्वान् (१६ वीं शताब्दी) ने अर्थसंग्रह लिखा जो मीमांसा-दर्शन में प्रवेशार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। इसपर अनेक टीकाएँ हुई हैं तथा इसका प्रकाशन भी कई स्थानों से हुआ है। इसमें अत्यन्त सरल ढंग से मीमांसा के विधि, मन्त्र, निषेध, अर्थवाद आदि विषयों का विवेचन है। इसी वंश के भट्ट केशव ने मीमांसार्थप्रकाश नामक ग्रंथ लिखा।

(२०) भट्ट-वंश—नारायणभट्ट-द्वितीय (जन्म १५१३ ई०) ने स्वयं केवल शास्त्र-दीपिका के अष्टम अध्याय की व्याख्या लिखी किन्तु उनके पुत्र शंकरभट्ट-प्रथम ने मीमांसा विषयक कई ग्रंथ लिखे—१. शास्त्रदीपिका-प्रकाश, २. मीमांसा-बालप्रकाश (चौखम्बा से प्रकाशित), ३. मीमांसासारसंग्रह (२५० श्लोक), तथा ४. विधिरसायन-दूषण—अप्पय्य दीक्षित के विधिरसायन का खण्डन। इनके भी पुत्र नीलकण्ठभट्ट (या दीक्षित) अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्होंने धर्मशास्त्र पर १२ मयूखग्रंथों की रचना

१. गुरुणि गुरुमते च ज्यौतिषे शास्त्रकेऽपि, प्रथितविमलकीर्तिर्वैद्यके शब्दशास्त्रे।

की (यथा—व्यवहारमयूख) । मीमांसा-दर्शन में इन्होंने भाट्टाक (या मीमांसान्याय) की रचना की । इनका समय १७ वीं शताब्दी का आरंभिक भाग है । इनके पुत्र शंकरभट्ट द्वितीय (१७ वीं शताब्दी) ने जैमिनीय सूत्रों पर भाट्टभास्कर नामक टीका लिखी । शंकरभट्ट—प्रथम के अग्रज रामकृष्णभट्ट के प्रथम पुत्र दिनकरभट्ट ने शास्त्रदीपिका की व्याख्या भाट्ट दिनकरी लिखी । धर्मशास्त्र के क्षेत्र में छत्रपति शिवाजी (१६२७-१६८० ई०) के संकेत पर इन्होंने शिवद्युमणिदीपिका का प्रणयन आरंभ किया जिसे इनके पुत्र गागाभट्ट ने पूर्ण किया । निर्णयसिन्धु नामक प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रंथ के लेखक कमलाकर भट्ट दिनकरभट्ट के ही अनुज थे । इनका गृहनाम दादुभट्ट भी था । अपने शान्तिरत्न नामक ग्रंथ में स्वरचित २२ ग्रंथों की सूचना इन्होंने दी है । ये सभी शास्त्रों के पण्डित थे ।^१ मीमांसादर्शन में इनकी तीन कृतियाँ प्राप्त हैं—(१) तन्त्रवार्तिक पर भावार्थ नामक टीका जिसका मुख्य लक्ष्य राणक का खण्डन करना है, (२) शास्त्रदीपिका पर आलोक-टीका (३) सूत्रों पर स्वतंत्र टीका ग्रंथ—शास्त्रमाला । इनका निर्णयसिन्धु १६६८ सं० (१६११ ई०) में पूरा हुआ था, अतः ये १७ वीं शताब्दी के आरंभिक भाग के ही हैं । इनके पुत्र अनन्तभट्ट ने जैमिनीयसूत्रों पर न्यायरहस्य नामक व्याख्या के अतिरिक्त अपने पिता की शास्त्रमाला पर ज्योत्स्ना नामक वृत्ति लिखी थी ।

दिनकरभट्ट के पुत्र गागाभट्ट^२ (विश्वेश्वरभट्ट) छत्रपति शिवाजी के अनुरोध पर उनके राज्याभिषेक (१६७४ ई०) के अवसर पर अपने संन्यासाश्रम का परित्याग करके उपस्थित हुए थे । ये अपने समय के प्रसिद्ध मीमांसक थे । इन्होंने मीमांसासूत्रों पर भाट्ट-चिन्तामणि नामक स्वतंत्र टीका लिखी थी जो मीमांसा-दर्शन के इतिहास में अनुपम है । भाट्टमत से इसमें अनेक दार्शनिक विषयों का निरूपण किया गया है, यथा—ज्ञानप्रामाण्य, प्रत्यक्ष, ईश्वरवाद, शक्तिवाद, सृष्टि-प्रलय, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, शब्द, विधिभेद, धात्वर्थ, आख्यात, लकारार्थ, कारक, समास, नञर्थ इत्यादि । इसका तर्कपाद—भाग चौखम्बा से प्रकाशित है । इनका दूसरा ग्रंथ सूत्रों की संक्षिप्त वृत्ति भी है जिसका नाम कुसुमांजलि है । इनकी तीसरी कृति शिवाकोदय है जो इनके कथनानुसार कुमारिल द्वारा अपूर्ण छोड़े गये श्लोकवार्तिक की पूर्ति है ।^३

अनन्तदेव प्रथम के पुत्र तथा आपदेव प्रथम के पौत्र आपदेव—द्वितीय ने अर्थसंग्रह की शैली में मीमांसान्यायप्रकाश (आपदेवी) नामक ग्रंथ लिखा जो बहुत लोकप्रिय हुआ । इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं—(१) ग्रंथकार के पुत्र अनन्तदेव द्वितीय द्वारा लिखित भाट्टालंकार चौखम्बा तथा बंबई से भी प्रकाशित है । (२) कृष्णनाथ न्याय-पंचानन की टीका कलकत्ता से तथा (३) चित्रस्वामी शास्त्री की टीका काशी संस्कृत

१. कमलाकरभट्ट कृत काव्यप्रकाश-टीका का अन्तिमभाग—

तर्क दुस्तर्कमेधः फणिपतिभणितिः पाणिनीये प्रपञ्चे

न्याये प्रायः प्रगल्भप्रकटितपटिमा भाट्टशास्त्रप्रवट्टे ।

प्रायः प्राभाकरीये पथि प्रथितदुरूहान्तवेदान्तसिन्धुः

श्रौते साहित्यकाव्ये प्रचुरतरगतिर्धर्मशास्त्रेषु यश्च ॥

२. गागाभट्ट इति प्रथां दिनकरात्प्राप्तः पितुर्लालनात् ।

३. यत्तर्कपादे बहुनाग्रहेण श्लोकेः कृतं वार्तिकमार्यवर्यैः ।

गागाभिधेनायमपूरि शेषस्तस्याज्ञया छत्रपतेः शिवस्य ॥

२ मी० भू०

ग्रंथमाला में प्रकाशित है। (४) प्रोफेसर एफ० एडगर्टन ने अमेरिका से इसका बहुत सुन्दर सानुवाद संस्करण प्रकाशित कराया था। आपदेव की एक दूसरी पुस्तक अधिकरण चन्द्रिका है।

अनन्तदेव द्वितीय (आपदेव के पुत्र) ने मीमांसा के सिद्धान्तों (न्यायों) को धर्मशास्त्र पर घटित करने के लिए स्मृतिकौस्तुभ नामक ग्रंथ भी लिखा जो बहुत विख्यात हुआ। इनका समय १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग है। खण्डदेव मिश्र भी इस काल के प्रसिद्ध मीमांसक थे जिन्होंने अनन्तदेव के भाट्टालंकार का खंडन किया था। नागेशभट्ट के अनुसार पण्डितराज जगन्नाथ ने इनसे मीमांसादर्शन पढ़ा था।^१ अतः इनका समय भी १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग ही है। इनकी भाट्टदीपिका पर इनके शिष्य शम्भुभट्ट ने जो प्रभावली-टीका लिखी है उससे सूचना मिलती है कि ये काशी के ब्रह्मनाथ मुहल्ले में रहते थे तथा इनकी मृत्यु १६६५ ई० में हुई थी। इनकी तीन कृतियाँ अत्यन्त ही प्रख्यात हैं—१. मीमांसाकौस्तुभ (कांजीवरम् तथा काशी से प्रकाशित)—नव्य न्याय की शैली से प्रभावित यह कृति मीमांसासूत्रों की व्याख्या है जो ३।३।७ तक उपलब्ध है। २. भाट्टदीपिका—यह लेखक की श्रेष्ठ कृति है। शास्त्रदीपिका के समान प्रथित इस कृति में मीमांसासिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या है। कलकत्ता, मैसूर, मद्रास तथा निर्णय-सागर (बंबई) से इसके संस्करण हुए हैं। प्रभावली के अतिरिक्त इस पर भाट्टकल्पतरु (रामशुभ शास्त्री, मद्रास), चन्द्रोदय (भास्कर राय), भाट्टचिन्तामणि (वंदेश्वर तथा सूत्रवृत्ति-सारावली (रंगाचार्य) नामक टीकाएँ हैं। प्रभावली निर्णयसागर प्रेस के संस्करण में संलग्न है। इसकी रचना १७०७ ई० में हुई थी। ३. भाट्टरहस्य—व्युत्पत्तिवाद के आदर्श पर मीमांसकों की शाब्दबोध-प्रक्रिया का इसमें विवेचन है।

वेंकटेश्वर दीक्षित के शिष्य राजचूडामणि ने (१७ वीं शताब्दी का मध्य) सूत्रों पर तन्त्रशिखामणि (रचना काल १६३७ ई०) व्याख्या तथा शास्त्रदीपिका की कर्पूर-वर्तिका-टीका लिखी। इसी काल में वेंकटाध्वरी ने विधिन्नयपरित्राण तथा मीमांसाम-करन्द नामक पुस्तकें लिखीं। इस काल में मीमांसासूत्रों पर राघवेन्द्रयति ने भाट्टसंग्रह तथा रामकृष्ण दीक्षित (धर्मराजाध्वरोन्द्र के पुत्र) ने मीमांसान्यायदर्पण नामक टीकाग्रंथ लिखे। सोमनाथ दीक्षित का अविर्भाव-काल भी यही है। इन्होंने शास्त्रदीपिका पर मयूखमालिका व्याख्या लिखी जो निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। इस काल के अन्य मीमांसक यज्ञनारायण दीक्षित (शास्त्रदीपिका की प्रभामण्डन-टीका) तथा गदा-धरभट्टाचार्य (विधित्वरूपविचार) हैं।

अनेक शास्त्रों के विद्वान् वैद्यनाथ तत्सद ने शास्त्रदीपिका पर प्रभा-टीका तथा जैमिनि-सूत्रों की अधिकरणात्मक व्याख्या के रूप में न्यायविन्दु लिखा। इनका समय १७ वीं शताब्दी का अंतिम भाग है। प्रायः इसी काल में मुरारिमिश्र (तृतीय) ने अंगत्व-निरुक्ति लिखी जो आनन्दाश्रम (पूना) से प्रकाशित है। काशी के भास्करराय (भास्करानन्द दीक्षित) ने वादकुत्सहल, चन्द्रिका (संकर्षकाण्ड के चार अध्यायों की व्याख्या) तथा भाट्टदीपिका पर चन्द्रोदय-टीका लिखी। इनका समय १८ वीं शताब्दी का प्रथम

१. रसगङ्गाधर (मंगल)—देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शसनं जैमिनीयम् ।

नागेश—देवादेव=खण्डदेवादेवेत्यर्थः ।

धरण है। वासुदेव दीक्षित ने इसी काल में अध्वरमीमांसाकुटुम्बलवृत्ति नामक जैमिनीय-सूत्रों की विस्तृत विवृत्ति लिखी। नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड (बालम्भट्ट) ने व्याकरण तथा धर्मशास्त्र के परिनिष्ठित ग्रंथों के अतिरिक्त मीमांसा का भी एक ग्रन्थ पिष्टपशुनिर्णय लिखा। १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध इनका आविर्भाव-काल है। इसी काल के दाक्षिणात्य मीमांसक रामानुजाचार्य ने प्रभाकरमत से प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपक ग्रन्थ तन्त्ररहस्य तथा भाट्ट-संप्रदाय में पार्थसारथिमिश्र की न्यायरत्नमाला की व्याख्या (न्यायरत्न) लिखी। मधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्तविन्दु के टीकाकार नारायणतीर्थ ने मीमांसा-विषयक भाट्टपरिभाषा लिखी। इनके शिष्य ब्रह्मानन्द सरस्वती (१८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने सूत्रों की व्याख्या मीमांसाचन्द्रिका लिखी जो भाट्ट-मत का अनुसरण करती है। ये भी बड़े वेदान्ती थे तथा वेदान्तियों की नीति 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के पक्षपाती थे।

इसी शताब्दी में राघवेन्द्र सरस्वती (मीमांसासूत्र-दीधिति नामक मीमांसासूत्र व्याख्या तथा मीमांसास्तवक) तथा उनके शिष्य बालकृष्णानन्द सरस्वती (न्यायामोद के लेखक) हुए। पुनः उत्तमश्लोकतीर्थ ने कुमारिल की उपटीका पर लघुन्यायसुधा नामक टीका लिखी। कृष्णयज्वा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मीमांसापरिभाषा में इस शास्त्र के मुख्य विषयों का सरल विवेचन किया। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रामेश्वर नामक संन्यासी (पूर्वनाम—शितिकण्ठ) हुए जिन्होंने मीमांसासूत्रों पर विहारवापी (१८४१ ई०) के अतिरिक्त अर्थसंग्रह की कौमुदी-टीका (१८३९ ई०) लिखी।

डा० गंगानाथ झा (२५ सितंबर, १८७१-७९ नवंबर १९०१) वर्तमान शताब्दी में उत्तरी भारत में मीमांसा-दर्शन के महान् उद्धारक थे। प्रयाग विश्वविद्यालय में विविध पदों पर काम करते हुए भी इन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों का अंग्रेजी रूपान्तर किया तथा संस्कृत में भी कई टीकाएँ लिखीं। मीमांसा के क्षेत्र में शाबरभाष्य, श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा सूत्रों का अंग्रेजी अनुवाद करने के अतिरिक्त इन्होंने मण्डन मिश्र की मीमांसानुक्रमणिका को संस्कृत टीका भी लिखी। इन्होंने प्रभाकर-संप्रदाय पर (Prabhakara School of Purva Mimamsa) शोध किया जिसपर प्रयाग विश्व० ने इन्हें १९०९ ई० में डी० लिट्० की उपाधि दी। १९४१ ई० इनका श्रेष्ठ ग्रंथ Purva-Mimamsa in its Sources प्रकाशित हुआ।

आधुनिक युग के अन्य मीमांसा लेखकों में कुप्पुस्वामीशास्त्री (मद्रास), चित्रस्वामी शास्त्री (काशी), गोपीनाथ कविराज, पाण्डुरंग वामन काणे, पशुपतिनाथ शास्त्री (An Introduction to Purva Mimamsa) ह्री० आर० चिन्तामणि (History of Mimamsa—Ph. D. Thesis. Madras), ए० बी० कीथ (Karma-Mimamsa), देवस्थली (Mimamsa—The Vakyashastra of Ancient India), हरिहरकृपाळु द्विवेदी (तर्कपाद की कल्पकलिका-व्याख्या) इत्यादि हैं। डा० उमेश मिश्र ने डा० झा की अंतिम पुस्तक को परिशिष्ट के रूप में 'मीमांसाकुसुमांजलि' लिखी जिसमें मीमांसा-दर्शन के सभी लेखकों तथा उनकी कृतियों का समीक्षात्मक परिचय है। यह प्रकरण उसी ग्रंथ पर आलंबित है।

मीमांसादर्शन के मुख्य विषय

अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के समान मीमांसा भी पृथक् सम्प्रदाय है अर्थात्

इसके अपने प्रमाण, प्रमेय तथा अन्य विवेच्य विषय हैं। इस दर्शन में अनेक प्रकार-ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें विभिन्न दृष्टियों से कतिपय पदार्थों का विचार हुआ है। मीमांसा-दर्शन के सामान्य पाठक को उनका ज्ञान होना आवश्यक है, अतः कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर यहाँ संक्षिप्त प्रकाश दिया जा रहा है।

प्रमाण—मीमांसा-दर्शन के भाट्ट तथा गुरु (प्रभाकर) मतों के अनुसार प्रमाणों की संख्या में मतभेद है यद्यपि प्रमाण का लक्षण दोनों ही समानरूप से देते हैं—अनधिगतार्थ-गन्तु प्रमाणम् (अज्ञात पदार्थ को ज्ञात कराने वाला प्रमाण है)। नैयायिकों का प्रमाण-लक्षण 'प्रमा-करण' है। इसे मीमांसक भी मानते हैं, किन्तु वे लोग प्रमा के विषय में कुछ भेद रखते हैं। जहाँ नैयायिक यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहेंगे, मीमांसकों के अनुसार 'प्रमा' का अर्थ है—अज्ञात पदार्थ का ज्ञान। अज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत स्मृति तथा अनु-वाद (कथित वाक्य या शब्द का पुनः उच्चारण) नहीं आते, अतः इन्हें प्रमाण कीटि के बाहर रखा जाता है।

प्रभाकर-मत के अनुसार प्रमाणों की संख्या पाँच है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। कुमारिलभट्ट तथा वेदान्ती लोग अनुपलब्धि को जोड़ कर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं यही स्थिति उपवर्ष तथा शबर की भी है। प्रभाकर अभाव को पृथक् पदार्थ नहीं मानते जिसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण जैमिनि ने चतुर्थ सूत्र में दिया है—सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत्प्रत्यक्षम्। इसके अनुसार पुरुष का बुद्धि से, बुद्धि का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष लक्षण भी इसी प्रकार का है, किन्तु उक्त सम्पर्क (सन्निकर्ष) के स्वरूप तथा संख्या में मतभेद है। न्याय के अनुसार सन्निकर्ष छह प्रकार के हैं—१. संयोग (चक्षु-घट), २. संयुक्त-समवाय (चक्षु-घटरूप), ३. संयुक्तसमवेतसमवाय (चक्षु-घटरूपत्व), ४. सम-वाय (श्रोत्र-शब्द), ५. समवेतसमवाय (श्रोत्र-शब्दत्व) तथा ६. विशेषणविशेष्यभाव भाव (समवाय और अभाव का ग्रहण=घटाभाववद् भूतलम्)। भाट्टमत में दो प्रकार के सन्निकर्ष हैं—संयोग तथा संयुक्ततादात्म्य। पृथिवी, जल तथा तेजस् का ग्रहण चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय के संयोग से होता है। वायु का ग्रहण त्वक्-संयोग से, दिक् आकाश तथा अन्धकार (यह पृथक् पदार्थ है) का ग्रहण चक्षु के संयोग से, शब्द का श्रोत्र-संयोग से, आत्मा का मनः संयोग से, तथा काल का सभी इन्द्रियों के संयोग से ग्रहण होता है। जब चक्षु आदि इन्द्रियों से संयुक्त पूर्वोक्त पृथिवी आदि द्रव्यों के स्वरूप-भूत जाति, गुण या कर्म का ग्रहण होता है तब इसे संयुक्त तादात्म्य कहते हैं। भाट्टों की यह मान्यता भी है कि जब जाति, गुण या कर्म में स्थित क्रमशः सत्ता, गुणत्व या कर्मत्व का ग्रहण होता है तब भी परंपरा से तादात्म्य संभव होने के कारण यही संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष होता है। किन्तु प्रभाकर (गुरुमत) समवाय को मानते हैं जिससे संयुक्तसमवाय तथा समवाय को मिलाकर (संयोग) तीन प्रकार के सन्निकर्ष स्वीकार करते हैं। भाट्टमत

१. मानमेयोदय, पृ० ७—

तस्मादज्ञाततत्त्वार्थज्ञानसाधनमेव नः।

प्रमाणमिति निर्णीतम् ॥

में परंपरया तादात्म्य के स्थानों में 'संयुक्ततादात्मतादात्म्य' नामक तृतीय सन्निकर्ष विकल्प से स्वीकार्य है—इस प्रकार वहाँ दो या तीन सन्निकर्ष होते हैं ।

मीमांसक छह इन्द्रियों मानते हैं—पाँच बाह्य तथा एक आन्तर (मन) । इन्हीं के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है । प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक । इन्द्रियसन्निकर्ष के तुरंत बाद (अनन्तरमेव) द्रव्यादि के स्वरूपमात्र का अवगाहन करने-वाला, शब्दानुगम से शून्य तथा सम्मुख ज्ञान जो उत्पन्न होता है उसे निर्विकल्पक कहते हैं (मानमेयोदय, पृ० १७) । इसमें कल्पना का कोई विशेषण नहीं दिया जाता है । इस ज्ञान के बाद शब्दानुगम की सहायता से जात्यादि विशेषणों से युक्त वस्तुविषयक (real) तथा व्यक्त ज्ञान जो उत्पन्न होता है, उसे सविकल्पक कहते हैं । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नैयाकरण लोग निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते, क्योंकि वे शब्द के अनुगम के अभाव में कोई ज्ञान नहीं स्वीकार करते हैं—प्रत्येक ज्ञान शब्दानुगत होता है (न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद्भूते—वाक्यपदीय १।१२३) । दूसरी ओर बौद्ध लोग सविकल्पक ज्ञान नहीं मानते । वे प्रत्यक्ष के लक्षण में (प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं निर्विकल्पकम्) इसे स्पष्ट कर देते हैं ।

सविकल्पक ज्ञान में पाँच प्रकार के विकल्प होते हैं—द्रव्य, जाति, गुण, कर्म, तथा नाम । इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—वैष्णुमानयम्, गोपोऽयम्, श्यामोऽयम्, गाय-त्ययम्, गोविन्दोऽयम् । प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष को कुछ लोग पष्ठ विकल्प के रूप में लेते हैं किन्तु इसे मीमांसक नहीं मानते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा से ज्ञातव्य तत्त्व को नाम की कल्पना में अन्तर्भूत किया जा सकता है ।

प्रभाकर 'साक्षात्प्रतीति' को प्रत्यक्ष कहते हैं किन्तु कुमारिल इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि उक्त स्थिति में सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष में नहीं आ सकेगा ।

प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में भ्रम का भी विवेचन हुआ है । स्वतःप्रमाणवादी मीमांसकों के लिए भ्रम की व्याख्या वस्तुतः एक समस्या है । यदि सभी ज्ञान अपने आप में (स्वतः) प्रमाण हैं, तब शुक्तिका में रजत का ज्ञान, जो भ्रमात्मक है, कैसे उत्पन्न होता है ? प्रभाकर कहेंगे कि 'इदं रजतम्' एकात्मक ज्ञान नहीं है, प्रत्युत इसमें दो ज्ञान हैं—प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरणात्मक । यहाँ 'इदम्' अंश प्रत्यक्ष का विषय है जिसमें शुक्तिका के कतिपय पैसे धर्मों का प्रत्यक्षज्ञान होता है, जो रजत के समान हैं । इन धर्मों का ज्ञान विगत अनुभवों का स्मरण कराते हैं जिससे 'रजत' का स्मरण हो जाता है । इनमें 'इदम्' वाला ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि इसका बाध परवर्ती काल में नहीं होता । द्वितीय ज्ञान स्थानान्तर तथा कालान्तर में देखे गये रजत के ज्ञान के रूप में है । दोनों ज्ञानों के (इदम् तथा रजतम्) परस्पर भेद का ग्रहण न करने के कारण ही भ्रम होता है तथा प्रमाता रजत के प्रति प्रवृत्त होता है । इसे अख्यातिवाद कहते हैं ।

कुमारिलभट्ट तथा मुरारिमिश्र भ्रम की व्याख्या विपरीतख्याति के रूप में करते हैं (जो नैयायिकों की अन्यथाख्याति से भिन्न नहीं है) । शुक्ति तथा रजत के विषय में होने वाले ज्ञान पृथक् हैं—शुक्ति का ज्ञान शुक्तित्व-प्रकारक होता है, रजत का रजतत्व-प्रकारक । शुक्ति तथा रजत में शुक्तित्व तथा रजतत्व समवाय-संबन्ध से रहते हैं, उनके धर्म हैं । भ्रम की स्थिति में अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में ज्ञान होता है—शुक्ति में रजतत्व-प्रकारक ज्ञान । इसे ही अन्यथाख्यातिवाद कहते हैं । आर्टों की मान्यता है कि शुक्ति

तथा रजतत्व में जो संबन्ध यहाँ हुआ है वह असत है जबकि नैयायिक लोग इस संबन्ध को अलौकिक मानते हैं ।

अनुमान का लक्षण है व्याप्य पदार्थ को देखकर दूरवर्ती पदार्थ का ज्ञान (व्याप्य-दर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम्—मानमेयोदय^१) जैसे पर्वत में धूम (व्याप्य) को देखकर अग्नि का ज्ञान । धूम (व्याप्य) तथा अग्नि (व्यापक) में विषमव्याप्ति है, क्योंकि धूमवान् पदार्थ का अग्निमान् होना अनिवार्य है, किन्तु इसका उलटा नहीं हो सकता । कृतकत्व तथा अनित्यत्व में समव्याप्ति है, क्योंकि दोनों ओर से व्याप्ति है । व्याप्ति को भाट्ट-मत में स्वाभाविक संबन्ध माना गया है जिसमें स्वाभाविक का अर्थ है उपाधिरहित होना । इसे हम साध्य-साधन के अस्तित्व का बार-बार दर्शन करके जानते हैं । चिदानन्द के अनुसार इस भूयोदर्शन के अतिरिक्त तर्क भी निरुपाधिकता के ज्ञान में सहायक है । प्रभाकर का मत है कि व्याप्ति उसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध है जैसे कार्य-कारण, अवयव-अवयवी, धर्म-धर्मी आदि में होता है । दिक् तथा काल की सीमा से भी यह ऊपर है । ये कहते हैं कि धूम को देखकर जो पर्वत में अग्नि का अनुमान होता है वह अज्ञातपूर्व नहीं है, क्योंकि व्याप्ति को स्थापना का ही एक भाग रहा है । तथापि अनुमान प्रमाण ही है, क्योंकि यह स्मृति के रूप में नहीं है । इसलिए प्रभाकर-मत में अनुमान को 'गृहीत-ग्राही' कहा जाता है । यद्यपि इससे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती तथापि यह विशेषता है कि एक का ज्ञान दूसरे संबद्ध पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न करता है । इसके अनुसार साध्य-साधन का एक बार ही दर्शन व्याप्तिज्ञान के लिए पर्याप्त है । भूयोदर्शन का महत्त्व यही है कि व्याप्ति-सम्बन्ध किसी बहिरंग परिस्थिति से प्रभावित नहीं है ।

अनुमान के दो भेद माने गये हैं—प्रत्यक्षतोदृष्ट-संबन्ध (या दृष्ट) जैसे—कृत्तिका नक्षत्र का उदय देखकर रोहिणी का अनुमान करना । दूसरा भेद सामान्यतोदृष्ट है, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान ।^२ हेत्वाभासों के भेदों का सर्वथा नवीन उपपादन मीमांसकों ने किया है । नैयायिकों के समान ये लोग केवल हेतु में ही दोष नहीं दिखलाते अपितु पक्ष, हेतु तथा उदाहरण इन तीनों में ही दोष दिखाते हैं । मानमेयोदय में इनका विशद विवेचन है । पुनः पञ्चावयव अनुमान के स्थान पर ये लोग वेदान्तियों के समान तीन वाक्यों से काम चलाते हैं—प्रथम तीन या अंतिम तीन ।^३

उपमान का लक्षण इस प्रकार है—दृश्यमान वस्तु के सादृश्य से, इन्द्रिय-सन्निकृष्ट न होने पर भी, स्मरण की जानेवाली वस्तु के सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं । जैसे गवय में गोसादृश्य देखने के बाद स्मरण किये गये गो-पदार्थ में गवय के सादृश्य का ज्ञान । यह प्रत्यक्षज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य धारण करने वाली वस्तु (गौ) उस काल में दिखलाई नहीं पड़ती । यह स्मृति भी नहीं है, क्योंकि गौ के ज्ञान के समय गवय से

१. शबरभाष्य (१ । १ । ५)—अनुमानं ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः ।

२. मानमेयोदय, पृ० ६०-६१ । श्लोकवार्तिक, अनुमान० १४१-४ । शबर ने पहले का उदाहरण दिया है—धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम् । दूसरे के उदाहरण में देवदत्त की देशान्तरप्राप्ति में गतिपूर्वकता देखकर सूर्य की गति का अनुमान दिया है ।

३. मानमेयोदय, पृ० ६४; वेदान्तपरिभाषा, पृ० ९२ ।

उसके सादृश्य का ज्ञान ही नहीं था—जिसका ज्ञान ही नहीं, उसकी स्मृति क्या होगी ? उपमान के विषय में प्रभाकर तथा कुमारिल का मतभेद है । कुमारिल सादृश्य को केवल एक गुण मानते हैं जो समानगुणों या धर्मों को धारण करने वाली एकाधिक वस्तुओं में अवस्थित है । प्रभाकर सादृश्य को पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं ।

शब्द-प्रमाण^१ पर मीमांसकों का विशिष्ट विवेचन प्राप्त होता है । पदों से निर्मित उन वाक्यों को शब्द-प्रमाण कहते हैं जिनसे हमें परोक्षार्थ ज्ञान मिलता है तथा जिन्हें हम आस साधन से पाते हैं । ये वाक्य पौरुषेय (आस पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त) तथा अपौरुषेय (वेदवाक्य) हो सकते हैं । पौरुषेय वाक्य तो यथार्थवक्ता के द्वारा प्रयुक्त होने पर ही प्रामाणिक होते हैं किन्तु अपौरुषेय वाक्य स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं । पदों का अर्थ तो हमें पूर्व-ज्ञात रहता है जिससे उसे प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु उन ज्ञात पदों के अर्थों के संबन्ध पर आश्रित वाक्यार्थ का ज्ञान हमें किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता, अतः पृथक् शब्द-प्रमाण मानने की आवश्यकता है । इस वाक्यार्थ के विषय में मीमांसकों का विशेष अभिनिवेश है ।

वाक्य का आरम्भ वस्तुतः वर्णों से ही होता है । प्रत्येक शब्द वर्णात्मक होता है । ये वर्ण (जों पद के अवयव हैं) अपना पृथक् अर्थ नहीं देते, केवल श्रुतिगोचर होते हैं; इनका श्रुतिविषय होना ही पद के अर्थज्ञान का साधन है । किन्तु हम जो किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान पाते हैं उसका कारण वर्णों की अर्थवत्ता ही है जिसे अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है (= अन्यथा शब्दार्थ की अनुपपत्ति होगी) । प्रत्येक वर्ण का प्रत्यक्ष स्वयं समाप्त होकर वर्ण-संस्कार को छोड़ता जाता है । प्रत्येक पूर्ववर्ण के संस्कारों को लेकर अन्तिम वर्ण तक हम जैसे ही पहुँचते हैं हमें शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है । यदि पूरा शब्द सुनने के बाद भी श्रोता को अर्थबोध नहीं हो तो समझना चाहिए कि अर्थज्ञान के लिए आवश्यक कुछ सहकारियों की कमी श्रोता में है । शब्दशक्ति का आरंभ चूँकि वर्णों की पृथक्-पृथक् शक्तियों से होता है अतः ये शक्तियाँ ही शब्दज्ञान का साक्षात् कारण हैं ।^२

मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्दों में अर्थबोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है—श्रोता बोध करें या न करें । इसे जैमिनि ने अपने सुप्रसिद्ध औत्पत्तिक-सूत्र (१।१।५) में स्पष्ट किया है—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः... । श्रोता शब्द-श्रवण के बाद भी तबतक उसके अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकेगा जबतक उसे इस सम्बन्ध का ज्ञान न हो कि अमुक शब्द में अमुक अर्थ बोध कराने की शक्ति है । किन्तु श्रोता के अज्ञान का शब्दार्थ-संबन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—शब्द में तो अर्थबोध की स्वाभाविकता शक्ति रहेगी ही । शब्दार्थ-संबन्ध न तो परंपरा पर निर्भर है, न ईश्वरादि की इच्छा पर (जैसा कि नैयायिक लोग मानते हैं) । केवल व्यक्तिबोधक नामों के विषय में हम परम्परा पर निर्भर करते हैं । इस सिद्धान्त का साक्षात् प्रभाव हम वैदिक विधियों के स्वतः प्रामाण्य पर देख सकते हैं । इन विधियों के अनुष्ठान से ही हमें अन्यथा अज्ञातव्य फलों की प्राप्ति होती है । नैयायिकों के विपरीत, मीमांसक लोग शब्द को नित्य मानते हैं । नित्य होने पर भी शब्द को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है जो उच्चारण करनेवाले पुरुष

१. शाबरभाष्य—शास्त्रमपि शब्दविज्ञानसंनिवृष्टेऽर्थे विज्ञानम् ।

२. S. N. Dasgupta, Hist. of Indian. Phil., Vol. I, p. 395.

के प्रयत्न से संभव है। नैयायिक पुरुष-प्रयत्न को जहाँ शब्द का उत्पादक समझते हैं, मीमांसक इसे शब्द का प्रकाशक-मात्र मानते हैं।

वाक्यार्थ-विषयक दो परस्पर भिन्न मत मीमांसकों में पाये जाते हैं। प्रभाकर का मत है कि विधायक वाक्यों में रहनेवाले शब्दों से ही शब्दार्थ-ज्ञान होता है, पृथक् शब्द का ज्ञान नहीं होता। किसी उत्तमवृद्ध^१ के द्वारा प्रयुक्त—गामानय, अर्थ बधान (गाय को ले आओ, घोड़े को बाँध दो) इत्यादि-वाक्यों को सुनकर जब मध्यमवृद्ध^२ कार्य में प्रवृत्त होता है तब सामने बैठा बालक उत्तमवृद्ध के शब्दों को सुनकर तथा मध्यमवृद्ध के कार्यों को देखकर अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञान लेता है कि गौ तथा अश्व शब्दों का अमुक अर्थों के साथ संबन्ध है। इस प्रकार किसी विधिवाक्य में अन्य तथ्यों के साथ संबद्ध रहने पर ही शब्दार्थों का बोध शब्दों से होता है। प्रभाकर के इस सिद्धान्त को अन्विताभिधान-वाद (विधिवाक्य में परस्पर अन्वय से युक्त पदों का अर्थबोध होना) कहा जाता है।^३ तदनुसार 'गामानय' में गाम्-पद का श्रवण करते ही यह बोध होता है कि गो-जाति के साथ कुछ क्रिया होनी है, यह क्रिया 'आनय' के द्वारा प्रकाशित होती है।

कुमारिल का मत है कि वाक्य में प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अभिधान होता है। इन अर्थों की योग्यता, आकांक्षा तथा संनिधि की सहायता से वाक्यार्थ के रूप से जोड़ देते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ और पदार्थ भिन्न तथ्य हैं। वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद (प्रत्येक शब्द के पृथक्-पृथक् अर्थों का बोध हो जाने पर वाक्य में अन्वय करना) कहा जाता है। वाक्यार्थ के विषय में नैयायिकों की भी यही मान्यता है।

प्रभाकर केवल वेद की विधियों को ही शब्द-प्रमाण मानते हैं। जैसे-स्वर्गकामो यजेत। अन्य सभी स्थितियों में बोलनेवाले की आसता के आधार पर शब्दों के प्रामाण्य का अनुमान होता है। कुमारिल आसपुरुषमात्र के शब्दों को शब्द-प्रमाण में रखते हैं।

अर्थापत्ति^४—किसी दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति (सिद्धि) जिसके अभाव में नहीं हो उस अन्य अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे हमें पहले से ज्ञान है कि देवदत्त जीवित है किन्तु उसे अपने घर में हम नहीं देखते। उसके जीवित होने के तथ्य की सिद्धि के लिए इस नये तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है कि वह घर के बाहर है। यह तथ्य अवृष्ट है। इस तथ्य के अभाव में (अन्यथा) देवदत्त के जीवित होने की उपपत्ति नहीं हो सकेगी अतः (अनुपपत्त्या) इसकी कल्पना करनी पड़ती है। इसका एक अन्य लोकप्रिय उदाहरण है—दिन में न खानेवाले देवदत्त का मोटा होना तब तक सिद्ध नहीं होगा जबतक हम अन्य अर्थ—कि वह रात में अवश्य भोजन करता होगा—न मान लें। सिद्धान्त यह है कि जिसके बिना जो असिद्ध हो उसका आक्षेप उसके द्वारा किया जाता है (येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते)।

यह प्रमाण स्वतंत्ररूप से मान्य है। रात्रिभोजन इन्द्रियगृहीत न होने से प्रत्यक्षगन्ध

१. शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञाता (वृद्ध) जो आदेश दे सकता हो (उत्तम)।

२. शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञाता (वृद्ध) जो आदेश का पालन करे (मध्यम)।

३. विशेष विवरण—शालिकनाथ कृत वाक्यार्थमातृकावृत्ति।

४. शाबरभाष्य (१।१।५)—अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना। यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना।

नहीं है। अनुमान के लिए अनिवार्य व्याप्ति यहाँ संगत नहीं है। यह ज्ञान किसी आप्त-वाक्य से नहीं मिला कि शब्द का विषय हो।

अर्थापत्ति के दो भेद हैं—(१) किसी दृष्ट वस्तु की उपपत्ति के लिए अदृष्ट वस्तु की कल्पना से दृष्टार्थापत्ति होती है जैसे—पीनो देवदत्तो दिवा न मुङ्क्ते इति रात्रिभोजनरूप-स्यादृष्टार्थस्य कल्पना। (२) किसी श्रुत-शब्द की उपपत्ति के लिए अश्रुत पदान्तर की कल्पना से श्रुतार्थापत्ति होती है, जैसे—‘पिपेहि’ इत्युक्ते द्वारमिति अश्रुतस्य पदान्तरस्य कल्पना।

कुमारिलभट्ट एक पष्ठ प्रमाण भी मानते हैं—अनुपलब्धि। इससे किसी पदार्थ के अभाव का ज्ञान होता है। अनुपलब्धि सामान्यरूप से किसी वस्तु के नहीं पाये जाने को नहीं कहते, अपितु उपलब्धि-ज्ञान के सभी साधनों के रहने पर भी पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो तभी अनुपलब्धि-प्रमाण कहलाता है। यदि ऐसा न मानें तो अन्धकार में न प्राप्त होनेवाले किन्तु वस्तुतः वर्तमान पदार्थों का भी अभाव मानना होगा। अतः अनुपलब्धि का अर्थ है—योग्यानुपलब्धि। इस प्रमाण को शंकरवेदान्ती भी मानते हैं। प्रभाकर इसे नहीं मानते। वे अभाव को अधिकरण-रूप मानते हैं, जैसे—घट का अभाव गृह में है तो वह गृहरूप ही है।

प्रामाण्यवाद—प्रमाणों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह तभी प्रामाणिक या सत्य होगा यदि उसकी कारण-सामग्री निर्दोष होगी। यदि कहीं भी उसमें दोष होगा तो ज्ञान असत्य होगा। अब प्रश्न है कि ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता कहाँ से आती है तथा कब आती है? इन प्रश्नों के समाधान के लिए दर्शन-शास्त्र में जो प्रकरण आया है उसे प्रामाण्यवाद कहते हैं। यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों के मत इस संदर्भ में नाममात्र के लिए हैं किन्तु मुख्य विवेचना दो संप्रदायों की ही है—न्याय तथा मीमांसा। नैयायिकों का अभिमत है कि ज्ञान को ग्रहण करानेवाली सामग्री से प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती, ज्ञान ग्रहण करने के बाद प्रवृत्ति की सफलता से प्रामाण्य तथा विफलता से अप्रामाण्य का अनुमान होता है। इसलिए उनके अनुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतः है। परतः होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति के बहुत बाद में ये दोनों आते हैं। नैयायिकों की यह धारणा है कि ज्ञान बाह्य परिस्थितियों के मिलने से उत्पन्न होता है इसलिये ऐसे ज्ञान की प्रामाणिकता का निरूपण भी बाह्य तथ्यों की समन्विति से ही होगा।^१ परन्तु ज्ञान बाह्य तथ्यों से भिन्न होता है, यह उन्हें प्रकाशित करना है, उनकी व्याख्या करता है। वस्तुओं में प्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं; प्रामाणिकता पर यदि किसी का एकाधिकार है तो बस केवल ज्ञान का ही। विभिन्न बाह्य वस्तुओं के विषय में ज्ञान होता है सही, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि ज्ञान को ये वस्तुएँ ही उत्पन्न करती हैं। इसके विपरीत हमारा अनुभव यही बतलाता है कि ज्ञान ही बाह्य तथ्यों को अभिव्यक्त करता है (Knowledge reveals objective facts)^२ सभी बाह्य तथ्य अपने प्रकाशन के लिए ज्ञान पर ही आश्रित हैं। यही मीमांसकों का उत्पत्ति-विषयक स्वतः प्रामाण्य है। ज्ञान के उत्पन्न होते ही वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं। ज्ञानोत्पत्ति

१. S. N. Dasgupta-H. I. P. Vol. I, p. 373-4.

२. उपरिबद्ध, पृ० ३७४।

तथा वस्तु-व्यक्ति (प्रकाशन) के बीच कोई भी कड़ी नहीं है जिसपर ज्ञान को आश्रित होना पड़े ।

मीमांसकों का सिद्धान्त इस प्रकार है—१. ज्ञान का प्रामाण्य कहीं बाहर से नहीं आता, अपितु ज्ञान ग्राहक-सामग्री के साथ-साथ स्वतः उत्पन्न हो जाता है (प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते) । २. ज्ञानोत्पत्ति के समय ही प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है, इनकी सिद्धि के लिए पृथक् अनुमानादि प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं (प्रामाण्यं स्वतः शायते) ।

हमारा दैनिक अनुभव यही है कि कोई भी ज्ञान अपने साथ ऐसा संस्कार लिए रहता है कि वह सत्य तथा निश्चित है । हम स्वभावतः उसके अनुकूल प्रवृत्त हो जाते हैं । शुक्तिका में रजतज्ञान जैसा भ्रान्त ज्ञान हो क्यों न हो—हम तुरंत उसके प्रति प्रवृत्त हो जाते हैं । यह तो बाद में चलकर ज्ञात होता है कि हमारा पूर्व रजतज्ञान अप्रामाणिक था । इसप्रकार अप्रामाण्य परतः होता है किन्तु प्रामाण्य स्वतः ही होता है । किसी पूर्ववर्ती ज्ञान को अप्रामाणिक कहकर हम बाद में भले ही छोड़ दें किन्तु तत्काल कोई भी ज्ञान प्रामाणिकता का संस्कार लेकर ही आता है । अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी व्यक्ति काम करता है तो अपने ज्ञान पर पूर्ण विश्वास के साथ ही वह बढ़ता है, अविश्वास-पूर्वक नहीं ।

स्वतः प्रामाण्य का महत्त्व मीमांसकों के लिए वेद की प्रामाणिकता के संदर्भ में सर्वाधिक है । ज्ञान के स्वतः प्रमाण होने से ही वैदिक-विधियों का ज्ञान होते ही तदनुकूल आचरण करने के लिए पुरुष प्रवृत्त हो जाता है, उसपर किसी प्रकार की शंका नहीं करता । स्मृति को छोड़कर अन्य सभी ज्ञान इस प्रकार स्वतः प्रमाण होते हैं । स्मृति पूर्वानुभव पर आश्रित रहती है इसलिए एक तो यह प्रमाण-कोटि (अज्ञातार्थज्ञापक-प्रमाणम्) में नहीं आती, दूसरे इसकी उत्पत्ति स्वाधीन रूप से नहीं होती ।

पदार्थ-विवेचन—पदार्थों के निरूपण में मीमांसक लोग सामान्यतः वैशेषिकदर्शन के अनुयायी थे किन्तु बाद में चलकर जब मीमांसा में भाट्ट तथा गुरु-मतों का विकास हुआ तब ईषत् परिवर्तन किया गया । कुमारिल केवल पाँच पदार्थ मानते हैं—द्रव्य, जाति, गुण, कर्म तथा अभाव । प्रभाकर आठ पदार्थ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, जाति, शक्ति, सादृश्य, संख्या तथा समवाय । इनमें शक्ति तथा संख्या को कुमारिल गुण के रूप में रखते हैं ।

द्रव्यों की संख्या वैशेषिकदर्शन में नौ है—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन । कुमारिल के मत से दो अन्य द्रव्य भी हैं—अन्धकार तथा शब्द । 'नीलं तमश्चलति' इस व्यवहार से अन्धकार में गुण तथा कर्म देखकर इसे द्रव्य माना गया है । वैशेषिक तथा प्रभाकर-मत में अन्धकार को प्रकाशभाव कहा गया है ।

मीमांसा-दर्शन वस्तुवादी है—जगत् के दृश्यमान रूप को सत्य मानता है । इन्द्रियों से जगत् के जिस रूप की सर्वदा उपलब्धि होती है, उसी रूप में जगत् सत्य है ।^१ संसार में तीन प्रकार की वस्तुएँ हैं—(क) भोगायतन शरीर जिसमें रहकर आत्मा को सुख-दुःखादि का अनुभव होता है, (ख) भोगसाधन इन्द्रियाँ जिनसे आत्मा को भोग में

१. श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४—तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा ।

तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत् ॥

सहायता मिलती है तथा (ग) भोगविषय पदार्थ जिनका भोग किया जाता है। मूल जगत नित्य है, उसकी सृष्टि या प्रलय नहीं होगा। व्यक्तियों का जन्म-मरण होता है। परमाणुवाद के प्रति मीमांसकों की मिश्रित स्वीकृति है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में परमाणु अनुमेय माने गये हैं किन्तु मीमांसा में नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं। इनसे अधिक सूक्ष्म कण ये लोग नहीं मानते। जगत के सभी पदार्थ अणुजन्य हैं। व्यक्ति के कर्म जब फलोन्मुख होते हैं तब अणुसंयोग से उनका जन्म होता है। फल की समाप्ति होते ही व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

इन्द्रियग्राह्य विषयों के अतिरिक्त मीमांसा में कुछ अतीन्द्रिय विषय भी माने जाते हैं, यथा—स्वर्ग, नरक, अदृष्ट, आत्मा, शक्ति इत्यादि।

शक्ति—प्रभाकर-सम्प्रदाय में शक्ति को एक पदार्थविशेष मानते हैं। शालिकानाथ मिश्र ने अपनी प्रकरणपञ्चिका (पृ० ८१-२) में पहली बार इसका विवेचन किया है। संसार की सभी वस्तुओं में किसी-न-किसी प्रकार की शक्ति वर्तमान है जिसका कार्य देखकर अनुमान होता है। जैसे अग्नि सदा एक कार्य—दाह के रूप में—उत्पन्न करती है किन्तु मणि, मंत्र या औषधि के प्रभाव में आकर उसका यह कार्य नष्ट हो जाता है। यद्यपि अग्नि के बाह्य रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, दोनों स्थितियों में अग्नि वैसी ही है। इससे अनुमान होता है कि अग्नि में कोई ऐसी चीज है जिसके रहने से यह जला सकती है और न रहने से यह जला नहीं पाती। यही अग्नि की शक्ति है जो कार्य उत्पन्न करती है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में कार्य उत्पन्न करने के लिए उसकी अदृश्य शक्ति की आवश्यकता है। इसके अभाव में वे कार्य नहीं कर सकते। नित्य-पदार्थों में यह शक्ति नित्य है, अनित्य-पदार्थों में अनित्य है। यह संस्कार से भिन्न है, क्योंकि संस्कार नित्य-पदार्थों में भी क्षणिक होता है। इस शक्ति के ही कारण द्रव्य, गुण, कर्म तथा जाति में किसी वस्तु का कारण बनने की क्षमता होती है।

भाट्ट-मत में शक्ति एक गुण है जो द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है, इसका ज्ञान श्रुति तथा अर्थापत्ति से होता है।^१ इनका कहना है कि यद्यपि हमें शक्ति को पदार्थ मानने में आपत्ति नहीं है किन्तु किसी सिद्ध पदार्थ का गुण मानने में ही लाघव दिखलाई पड़ता है। शक्ति के दो भेद हैं—लौकिक (अर्थापत्ति से ज्ञातव्य, जैसे अग्नि की दाहकत्वशक्ति) तथा वैदिक (वेद-विधियों से गम्य, जैसे यागों की स्वर्गसाधकत्वशक्ति)।

शक्ति चूँकि कर्म में भी रहती है अतः हमारे द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों (लौकिक तथा वैदिक) में भी इसकी उपस्थिति है। इसे ही अदृष्ट या अपूर्व शक्ति कहते हैं। कर्मों के फल उत्पन्न करना इसी का कार्य है। कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। कभी-न-कभी उसका फल अवश्य मिलता है। अपूर्व के रूप में उसका फल सुरक्षित रहता है। इसी के कारण हमारा जन्म होता है, भोगायतन तथा भोग-विषय मिलते हैं। संसार के सभी भोग कर्मा-नुसारी होते हैं। शक्ति का यह बहुत बड़ा योगदान है।

वेद के विषय—मीमांसकलोग वेद (अपौरुषेय वाक्य) के पाँच विभाग मानते हैं—विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद।

१. मानमेयोदय, पृ० २५८—शक्तित्वसामान्यवतीं द्रव्यकर्मगुणाश्रयाम्।

श्रुत्यर्थापत्तिविज्ञेयां शक्तिमाहुः कुमारिलाः ॥

२. अर्थसंग्रह, पृ० १०।

अज्ञात अर्थ के ज्ञापक वेदभाग को विधि कहते हैं, जैसे—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-
कामः। इसके भी चार भेद होते हैं—उत्पत्तिविधि (कर्म के स्वरूप का बोध कराने
वाली), विनियोगविधि (अंग तथा प्रधान कर्मों का संबन्ध बतलाने वाली), अधिकार
विधि (कर्मजन्य फल के स्वाभित्व की बोधक) तथा प्रयोगविधि (प्रयोग की शीघ्रता
की बोधक या अंगों के क्रम की बोधक) ।

मंत्र किसी प्रयोग या क्रिया से संबद्ध प्रयोजनों का स्मरण कराते हैं । अर्थ का स्मरण
कराने के कारण ही ये दृष्टार्थ हैं, मंत्र का उच्चारण केवल अदृष्ट फल के लिए नहीं होता ।
'मंत्रों से ही अर्थ का स्मरण करे'—ऐसी नियमविधि है । यज्ञों के नामों को नामधेय
कहते हैं जैसे—उद्भिदा यजेत । यहाँ 'उद्भिद' यज्ञ का नाम है । पुरुष को किसी कर्म से
निवृत्त करने वाले वाक्य को निषेध कहते हैं जैसे—न कलञ्जं भक्षयेत् (विपाक्त वाण
से मारे गये पशु का मांस न खाये) । अर्थवाद वह वाक्य है जो विधियों की प्रशंसा या
निषेधों की निन्दा करें, यथा—वायुर्ध्वं क्षेपिष्ठा देवता (वायव्यं श्वेतमालभेत—इस विधेय
की प्रशंसा); सोऽरोदीचदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् (बर्हिषि रजतं न देयम्—इस
निषेध की निन्दा) ।

तर्कपाद की विवेचना.

जैमिनि-प्रणीत मीमांसादर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद को 'तर्कपाद' कहा
जाता है । इसमें कुल ३२ सूत्र हैं, जिन्हें निम्नलिखित अधिकरणों (topics) में विभक्त
किया गया है—

१. धर्मज्ञासाधिकरण—(सूत्र १) ।
२. धर्मलक्षणाधिकरण—(सूत्र २) ।
३. धर्मप्रामाण्यपरीक्षाधिकरण—(सूत्र ३) ।
४. धर्म प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्याधिकरण—(सूत्र ४) ।
५. वेदविधिप्रामाण्याधिकरण—(सूत्र ५) ।
६. शब्दनित्यत्वाधिकरण—(सूत्र ६-२३) ।
७. वाक्यार्थप्रामाण्याधिकरण—(सूत्र २४-२६) ।
८. वेदापौरुषेयत्वाधिकरण—(सूत्र २७-३२) ।

अधिकरण एक शास्त्रीय शब्द है जिसमें किसी नियत विषय के विभिन्न पक्षों का
निरूपण अभिप्रेत होता है । ये पक्ष पाँच प्रकार के होते हैं—१. विषय, २. विशय
(संशय)—दिये गये विषय पर संदेह की प्रवृत्ति, ३. पूर्वपक्ष—विरोधियों का या आपा-
ततः प्रतीत होने वाला विचार, ४. उत्तरपक्ष—खण्डन का उत्तर, ५. सिद्धान्त—विषय
की विवेचना पर निर्णय देना ।

१. विषयो विशयश्चेति पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।

निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणम् स्मृतम् ॥

कुछ स्थलों में छह अवयव भी माने गये हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रयोजन
तथा संगति । न्यायकोश (पृ० १३) में पाँच ही अवयवों को अधिकरण कहा गया है
जो वेदान्त तथा मीमांसा दोनों में स्वीकार्य है (मीमांसाधिकरणकौमुदी पृ० १) । कुछ
लोग प्रयोजन, विषय, संशय, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त (उत्तर) के रूप में पाँच अवयव
ग्रहण करते हैं ।

संस्कृत के प्रायः सभी सूत्र-ग्रन्थों में अधिकरण प्रयुक्त हुए हैं। मीमांसा-दर्शन के सूत्रों में अधिकरण के लिए टीकाग्रंथों की अनिवार्यता निस्संदिग्ध है। उनके अभाव में यह कहना कठिन है कि कौन-सा अधिकरण कहाँ आरंभ हुआ, और कहाँ समाप्त हुआ ?

(१) धर्मजिज्ञासा—इसका दूसरा नाम शास्त्रारंभ भी है। धर्मविषयक जिज्ञासा आरंभ होने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक है, क्योंकि मीमांसकों के अनुसार वैदिक विधियों के अनुष्ठान से धर्म उत्पन्न होता है तथा इन विधियों का अनुष्ठान वेदाध्ययन के बिना संभव नहीं है। वेदाध्ययन का विधान करने वाले वाक्य इस प्रकार हैं—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (कुमारिल के अनुसार), अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत (प्रभाकर के अनुसार)। इन्हीं वैदिक वाक्यों को इस अधिकरण का विषय कहते हैं। इसके बाद संशय होता है कि ये वाक्य केवल वेदाध्ययन (उच्चारण) का विधान करते हैं या इनके द्वारा अधीत वाक्यों के अर्थानुसंधान का भी विधान होता है। पूर्वपक्ष होगा कि इन वाक्यों से तो वेदों के अध्ययनमात्र का ही विधान स्पष्ट होता है, अर्थ के अनुसंधान की बात तो इसमें है ही नहीं। इसलिए अर्थानुसंधान पर आश्रित मीमांसाशास्त्र के आरम्भ का कोई प्रदन ही नहीं होगा। इसपर उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) होगा कि नहीं, उक्त विधिवाक्यों में वेदाध्ययन के साथ अर्थानुसंधान भी विहित है—अतः मीमांसाशास्त्र आरम्भ होता है। यहाँ प्रयोजन यह है कि वेदाध्ययन समाप्त करने के अनन्तर क्या करे ? यह शास्त्रारम्भ का अवसर उपस्थित करता है।

‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ सूत्र के प्रत्येक पद की सम्यक् विवेचना शबर ने प्रस्तुत की है। १. ‘अथ’ शब्द के अनेक अर्थों में आनन्तर्य को प्रकृत स्थल में स्वीकार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वेदाध्ययन समाप्त करने के अनन्तर (अथ) धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। वेदाध्ययन की समाप्ति के अनन्तर दो मार्ग छात्र के समक्ष आते हैं—अध्ययन समाप्ति का सूचक स्नान करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा स्नान करके पुनः आश्रम में रहकर ही वेदार्थ का अनुसंधान करे जिससे धर्मजिज्ञासा प्रवृत्त होती है। किसी भी स्थिति में वेदाध्ययन करने के बाद ही धर्मजिज्ञासा होगी। २. ‘अतः’ शब्द हेतु के अर्थ में आया है जो पूर्ववृत्त की सूचना देता है—चूँकि वेदाध्ययन समाप्त हो चुका है, इसलिए धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए। वेदों का अध्ययन नहीं किया हुआ व्यक्ति धर्म की व्याख्या के लिए वेदों का विचार नहीं कर सकता, इसलिए बाद में धर्म की जिज्ञासा होती है। ३. धर्म की जिज्ञासा करने में स्वभावतः निम्नांकित प्रश्न उपस्थित होते हैं—धर्म क्या है ? इसका लक्षण क्या है ? इसे जानने के साधन क्या हैं ? इसे जानने के साधनाभास (साधन न होने पर साधन—जैसे प्रतीत होने वाले) क्या हैं ? धर्म का उद्देश्य क्या है ? प्रथम तथा द्वितीय प्रश्नों का समाधान एक ही सूत्र में है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) अर्थात् वैदिक विधियों (चोदना) के द्वारा निर्दिष्ट निःश्रेयस देनेवाला (अर्थ) धर्म कहलाता है। शेष प्रश्नों का उत्तर दूसरे सूत्रों में है।

इस प्रसंग में शबर ने एक शंका उठायी है कि धर्म सिद्ध वस्तु है या असिद्ध। यदि सिद्ध है तो सबको ज्ञात ही है, जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं और यदि असिद्ध है तब इस विषय में न ज्ञान होगा, न इच्छा ही। फलतः धर्मजिज्ञासा का प्रकरण ही व्यर्थ है। उत्तर होगा कि नहीं, धर्म के स्वरूप के विषय में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं। यदि बिना विचार किये कोई व्यक्ति असंगत लक्षण को ही धर्म मानकर प्रवृत्त होता हो

तो न केवल लक्ष्यभ्रष्ट होगा अपितु अनर्थ की प्राप्ति भी करेगा। अतः धर्मजिज्ञासा आवश्यक है।

(२) धर्म का लक्षण—इस सूत्र में भी अधिकरण से सभी अवयवों को देखा जा सकता है। इस सूत्र में धर्म का लक्षण करते हुए उसके स्रोत पर प्रकाश दिया गया है—चोदना अर्थात् वेदगत विधिवाक्य ही धर्म के स्रोत हैं। धर्म का मुख्य लक्षण है—अर्थः (= निःश्रेयस से पुरुष को संयुक्त करनेवाला कार्य) धर्मः। इस अर्थ के विशेषण के रूप में ‘चोदनालक्षितः’ का प्रयोग हुआ है। तदनुसार केवल उन्हीं कल्याणकर क्रियाकलापों को धर्म कहेंगे जो वेदविधियों से लक्षित (निर्दिष्ट) हों। क्रिया के प्रवर्तक वेदवाक्यों की अपरिमेय शक्ति का प्रकाशन शबर ने किया है—अतीत, वर्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट—इन सभी पदार्थों का बोध कराने की क्षमता उनमें है। कोई दूसरा साधन (प्रमाण) ऐसा नहीं कर सकता। इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) में तो यह शक्ति नहीं ही है।

धर्म का प्रयोग यहाँ जैमिनि ने पुण्य के अर्थ में नहीं किया है अपितु पुण्यजनक-कर्तव्यमात्र इसका अर्थ है। इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं—१. पुण्यजनक कार्य जो वेद में निर्दिष्ट है, धर्म है। २. धर्मज्ञान का साधन एकमात्र वेद है। ३. वेद प्रमाण है।

वेद की प्रामाणिकता पर शंकाएँ उठायी गई हैं किन्तु उन सबों का सम्यक् उत्तर भाष्यकार ने दिया है। शबर की युक्ति है कि यदि वेदोक्त विधियों का ज्ञान होता है तो अवश्य ही वे विधियाँ सत्य या प्रमाण हैं। असत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता (असन्तमर्थम-बबुध्यत इति विप्रतिपिद्धम्)। ‘स्वर्गकामो यजेत’ आदि विधियों को न संदिग्ध कहा जा सकता है, न मिथ्या ही। जब यह ज्ञान काल, स्थान, पुरुष आदि के भेद से परिवर्तित नहीं होता तो इसे मिथ्या कैसे कह सकते हैं? इस प्रकार अनेकशः युक्तियों से शबर ने वेद के प्रामाण्य पर आक्षेप करनेवालों को उत्तर दिया है। वेद में प्रतिपादित विधियों में भी जो ‘अर्थ’ (कल्याणकर) हो उसे ही धर्म की संज्ञा दी जायगी, अनर्थ (हिंसादि के रूप में)—प्रतिपादक विधियों को नहीं। यथा—‘इयेनेनाभिचरन् यजेत’ में जो इयेनयाग का विधान है वह अभिचार-कर्म का प्रतिपादक है। अभिचार-कर्म निषिद्ध है (न हिंस्यात्सर्वा भूतानि)। यह अनर्थ (अश्रेयस्कर) है।

सूत्र की शक्ति पर आशंका होती है कि इन दो बातों का प्रतिपादन करने में वह समर्थ है या नहीं—१. चोदनालक्षणो धर्मः, नेन्द्रियादिलक्षणः। २. अर्थश्च धर्मो, नानर्थः। एकवाक्य के रूप में प्रतीत होने वाले इस सूत्र में यदि दो अर्थों की कल्पना कर ली जायगी तो इसकी एकवाक्यता भग्न हो जायगी। इसके समाधानार्थ भाष्यकार निर्णय देते हैं कि वाक्यभेद वाला दोष केवल वैदिकवाक्यों में लगता है, सूत्रवाक्यों में नहीं। सूत्रों में तो योगविभाग (वाक्यभेद) होता ही है। इसीलिए यहाँ भी दो वाक्यों की कल्पना है। वस्तुतः इसमें एक ही वाक्य है, जैसा कि दूसरे समाधान में शबर ने स्पष्ट किया है—अर्थ (श्रेयस्कर) होने वाले कार्य को जो धर्म कहते हैं, वह वेदविधियों से ही ज्ञात होता है (अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यते)।^१

१. शबरभाष्य—प्रभा, पृ० २०—यो धर्मः स चोदनालक्षणः, न तु यश्चोदनालक्षणः स धर्म इति। तथात्वेऽनर्थस्यापि चोदनालक्षणत्वात् तस्य धर्मत्वव्यावृत्त्यर्थमर्थग्रहण-मावश्यकमित्यर्थद्वयप्रयुक्तवाक्यभेदो भवेत्।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (२।१९५-१९७) में धर्मविषयक विभिन्न चिन्तकों के विचारों को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार ये पाँच सिद्धान्त अस्वीकार्य हैं—१. सांख्य-मत जिसमें अन्तःकरण के कार्य-विशेष (वृत्ति) को धर्म कहते हैं, २. बौद्धमत—सद-सत्त्व कर्मों के फलस्वरूप मानस वासनाएँ धर्म हैं—(एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान में उत्पन्न होनेवाली वासना है)। ३. जैनों के अनुसार देह को आरम्भ करनेवाले पुण्यविशेष से उत्पन्न पुद्गल-रूप परमाणु धर्म हैं। ४. नैयायिकों के अनुसार विहितकर्मों से उत्पन्न आत्मा का विशेषगुण (जिसे अदृष्ट भी कहते हैं) धर्म है, ५. कुछ मीमांसक अपूर्व को ही धर्म मानते हैं।^१

इनमें प्रथम चार मतों को हम पुरुष के अर्थ (प्रयोजनसाधक या श्रेयःसाधक) के रूप में वेदों से नहीं जान पाते हैं। ऐसी स्थिति में ('चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' से संगत न होने के कारण) ये धर्मलक्षण समीचीन नहीं हैं। जहाँ तक अपूर्व वाले मत का प्रश्न है अपूर्व वस्तुतः धर्म के साधन (याग) या साध्य (स्वर्ग) से भिन्न नहीं है। यदि याग, स्वर्गादि के स्थान पर हम वेदों में अश्रुत पदार्थ 'अपूर्व' की कल्पना करें तो यह असंगत होगा। अतः कुमारिल अपूर्व को धर्म का लक्षण न मानकर शक्तिविशेष मानने का आग्रह करते हैं। यह अपूर्वशक्ति यागादि साधनों में (साध्य उत्पन्न करने की दिशा में प्रवृत्त) अथवा पशु-स्वर्गादि साध्य में (अनेक जन्म या प्राप्ति होने की दिशा में प्रवृत्त) निहित रहती है।^२

कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वै० सू० १।१।२) अर्थात् अभ्युदय (तत्त्वज्ञानद्वारा—किरणवाली तथा उपस्कार, स्वर्गसुख-वृत्ति) तथा निःश्रेयस (परम कल्याण, अपवर्ग) की प्राप्ति हो वह धर्म है। इसमें मीमांसोक्त लक्षण के द्वितीय खण्ड (अर्थः) का निर्देश हुआ है। शबर भी प्रायः इसी स्वर में कहते हैं—१. तथा (चोदनया) यो लक्ष्यते सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति-इति प्रतिजानीमहे। २. तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः.....य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते...तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्म-शब्देनोच्यते। इस प्रकार निःश्रेयस के निमित्त ज्यातिष्टोमादि याग धर्म हैं। कणाद वेदोक्त अंश को धर्म-लक्षण में समाविष्ट तो नहीं करते किन्तु परोक्षतः वहाँ पहुँच ही जाते हैं, क्योंकि अगले सूत्र में 'तद्वचनादात्मनायस्य ग्रामाण्यम्' कहकर यह निरूपित करते हैं कि धर्म का प्रतिपादक होने के कारण वेद की प्रामाणिकता है। इस प्रकार वेदों से विहित या शात स्वर्गापवर्ग-साधक क्रियाओं को धर्म का स्वरूप प्रकारान्तर से वे भी मानते हैं।

'निःश्रेयस' शब्द परम श्रेयस या सबसे बड़े अभीष्ट को कहते हैं जो मोक्ष या अप-वर्ग (परम पुरुषार्थ) ही है। नैयायिकों तथा वैशेषिकों के विपरीत मीमांसक लोग इस स्थिति को भावरूप मानकर स्वर्गादि को ही निःश्रेयस समझते हैं। यह यागादि-साधनों से निष्पन्न होता है। कुमारिल ने इसी संदर्भ में 'श्रेयस्' तथा धर्म का सम्बन्ध दिख-लाया है—

१. श्लोकवार्तिक (२।१९५)—अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायां च चेतसः।

पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेषूपूर्वजन्मनि ॥

२. श्लोकवार्तिक (२।१९९)।

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।

चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥

(श्लो० वा० २ । १९१)

श्रेयस्-पुरुष को प्रसन्नता को कहते हैं जो वेदों में प्रतिपादित द्रव्यों, गुणों तथा कर्मों से प्राप्त होती है—इसीलिए उक्त द्रव्यादि में ही वास्तव में धर्म उपस्थित है ।

स्मरणीय है कि मीमांसकों में पहले एकमात्र वेदविधियों को ही प्रमाण मानने की परंपरा थी, बाद में श्रुतिमूलक होने के कारण स्मृतियों की विधियों को भी प्रमाणकोटि में रखा गया । वैसे धर्मशास्त्रों में श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा आत्मा का अभीष्ट कार्य—इन चारों धर्म का प्रमाण माना गया है ।^१ मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का समानान्तर विकास होता रहा है—इसे हम दिखा चुके हैं ।

(३) धर्मप्रामाण्य—धर्म के विषय में किस प्रमाण की सामर्थ्य है, इसे निरूपित करने के लिए तीन सूत्र दिये गये हैं (३-५) । यहाँ शंका हो सकती है कि विधिवाक्य (वेद) में ही यह सामर्थ्य है या अन्य प्रमाण भी इसकी क्षमता रखते हैं ? जबतक इसका निर्णय नहीं हो जाता, धर्म का कोई भी लक्षण ठोक नहीं होगा ।

इस प्रसंग में जैमिनि प्रत्यक्ष-प्रमाण के असामर्थ्य पर कहते हैं (सूत्र ४) कि इन्द्रियों का सांसारिक पदार्थों के साथ संबन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं । यह प्रत्यक्ष धर्म के ज्ञान का कारण नहीं हो सकता (प्रत्यक्षमनिमित्तम्), क्योंकि यह केवल वर्तमान काल के भौतिक पदार्थों को ही उपलब्धि करता है । धर्म न तो भौतिक पदार्थ है और न यह वर्तमानकालिक पदार्थ है; अतः प्रत्यक्ष से धर्म का बोध होना असंभव है । ऐसी बात नहीं है कि धर्म प्रमेय न हो; किन्तु उपर्युक्त प्रकार से असमर्थ होने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण की प्रवृत्ति इसमें नहीं होती है ।

जहाँ तक अनुमान, उपमान तथा अर्थापत्ति—इन तीन प्रमाणों के द्वारा धर्मबोध का प्रश्न है, हम इन्हें भी असमर्थ पाते हैं । कारण यह है कि ये किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष (इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष) पर ही आश्रित हैं ।^२

ये तीनों प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा लाये गये तथ्यों तथा स्थितियों का ही उपयोग करते हैं । अतः इनमें भी धर्म का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं है ।

तब क्या अनुपलब्धि-प्रमाण का उपयोग हो ? धर्म के ज्ञान के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है—क्या यह स्थिति है ? नहीं, प्रमाण का अभाव नहीं है । नित्य शब्दार्थ-संबन्ध के रूप में हमें वेद—प्रमाण तो मिलता ही है । इसे ही शास्त्र-प्रमाण भी कहते हैं ।^३ वैदिक शब्दों से धर्माधर्म-रूप अर्थ का ज्ञान होता है । यह प्रत्यक्षगम्य नहीं है । धर्म की ओर पुरुष को प्रवृत्त करना और अधर्म से निवृत्त करना शास्त्र का लक्ष्य होता है । इसीलिए कुमारिल ने कहा है—

१. मनुस्मृति (२ । १२)—श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

२. शाबरभाष्य (१ । १ । ४)—प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वम् ।

३. शा० भा० (१ । १ । ५)—शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् ।

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधायते ॥ (श्लो० वा०)

अर्थात् जिन नित्य (अपौरुषेय वेद) वाक्यों से अथवा कृतक (अनित्य स्मृति आदि) वाक्यों से पुरुष को प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश दिया जाय उन्हें शास्त्र कहते हैं । कुमारिल वेदमूलक स्मृतियों को भी शास्त्र मानते हैं, प्रभाकर केवल वेद को ।

(४) शास्त्रप्रामाण्य—शास्त्र की धर्मबोध-क्षमता पर शावरभाष्य में पूरा विवाद प्रस्तुत किया गया है जो तर्कपाद के पंचम सूत्र (औत्पत्तिकस्तु...) में आया है । वैदिक शब्दों की अप्रामाणिकता दिखाते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि वेदों में जिन फलों का श्रवण होता है वे प्रत्यक्षतः नहीं मिलते । पशुकामेष्टि करने के बाद पशु नहीं मिलते, इसलिए प्रमाणित होता है कि यह दृष्टि पशु-रूप फल नहीं देती । फल तो कर्म के समय में ही मिलता है । जिस समय शरीर-मर्दन होगा, उसी समय उसका सुख भी मिलेगा । कालान्तर में फल देने की बात समझ में नहीं आती—जब कर्म किया तब फल नहीं; और फल मिला तो कर्म नहीं किया गया । ऐसी स्थिति में दोनों का कार्यकारणभाव कैसे मानें ? इस दृष्ट-फल में जब वेद के शब्द अप्रमाण हैं तो स्वर्गादि अदृष्ट फलों में तो होंगे ही ।

इतना ही नहीं, कभी-कभी दृष्ट के विरुद्ध वाक्य भी वेद में दिखलाई पड़ते हैं । एक अर्थवाद-वाक्य है—‘स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति’ (आहिताग्नि के शरीर पर यज्ञपात्रों को रखकर जलायें, वह शीघ्र स्वर्ग चला जाता है—यह दाहकर्म से संबद्ध है) । इसमें प्रत्यक्षतः शरीर के ही स्वर्गगमन का निर्देश है । शरीर तो जल जाता है, वह स्वर्ग कैसे जाएगा ? इसी प्रकार के अनर्गल वाक्य वेद में हैं । ऐसा पूर्वपक्ष का आक्षेप है ।

इसके उत्तर में कहा गया है—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः—अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ संबन्ध होना स्वाभाविक या अपौरुषेय है । इस संबन्ध को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता । धर्म के ज्ञान का साधन इसलिए वैदिक-विधि है, अन्य कोई साधन नहीं । विधि के रूप में शब्द ही उक्त साधन है । परोक्ष विषयों के ज्ञान के लिए यह अमोघ साधन है, कभी मिथ्या या विपरीत नहीं होता । अनन्याश्रित होने के कारण यह स्वतंत्र रूप से प्रमाण है । तात्पर्य यह हुआ कि शब्द से उत्पन्न ज्ञान के समर्थन के लिए किसी अन्य ज्ञान या व्यक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है ।

शब्दार्थ संबन्ध को यदि अन्य प्रमाणों पर आश्रित मानते तो परोक्ष विषयों के ज्ञान में इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध होती । चूँकि यह संबन्ध नित्य, स्वयंसिद्ध तथा स्वतंत्र है, अतः वेद के शब्दों से प्राप्त ज्ञान का कभी विपर्यय नहीं हो सकता । इसलिए वैदिक विधियों से प्राप्त ज्ञान सही तथा विश्वसनीय है (सम्यक् संप्रत्ययः—शावरभाष्य) । पुरुष-प्रयुक्त शब्दों के विषय में संदेह का अवकाश है, क्योंकि ये शब्द अन्याश्रित हैं, अपनी प्रामाणिकता के लिए उन स्रोतों पर निर्भर हैं जहाँ से प्रयोक्ता पुरुष ने ज्ञान प्राप्त किया है । किन्तु अपौरुषेय शब्दों में संदेह होने का कोई प्रश्न ही नहीं । वैदिक शब्दों से प्राप्त ज्ञान देश, काल, अवस्था तथा पुरुष के भेद से भी विपरीत नहीं होता ।^१

१. शा० भा० (१११५)—न च मिथ्यैतदिति कालान्तरे देशान्तरेऽवस्थान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनरव्यपदेश्यप्रत्ययो भवति ।

किन्तु यह स्थिति तभी युक्तिसंगत हो सकती है जब शब्द तथा अर्थ के बीच संबन्ध का स्वरूप स्पष्ट हो। संबन्ध कई प्रकार के होते हैं, यथा—संयोग, समवाय, कार्यकारणभाव, निमित्त-नैमित्तिकभाव, आश्रयाश्रयिभाव इत्यादि। इनमें शब्दार्थ-संबन्ध को किस श्रेणी में रखेंगे ?

इसके उत्तर में शबर कहते हैं कि शब्दार्थ-संबन्ध संज्ञासंज्ञि-भाव अर्थात् वाच्यवाचक-भाव के रूप में है। किन्तु विरोधी लोग आक्षेप करते हैं कि यदि शब्द प्रत्यायक (बोधक) या वाचक होता है तो प्रथम बार सुनाई पड़ते ही क्यों नहीं बोध कराता ? उत्तर यह है कि व्यवहार या लौकिक अनुभव पर ही हम सर्वदा निर्भर हैं।^१ किसी शब्द को व्यवहारतः तभी प्रत्यायक या वाचक कहते हैं जब वह किसी वस्तु का बोध कराये। पहली बार सुने गये शब्द से ऐसा नहीं होता इसलिए वह शब्द प्रत्यायक नहीं कहलाता। किसी शब्द का पुनः पुनः प्रयोग करने के बाद जब उसके अर्थ का निश्चित ज्ञान हो जाता है कि इस शब्द का यह अर्थ है, तभी उस शब्द को प्रत्यायक कहें। वैसे शब्द में अर्थ तो है ही, व्यक्ति को इसे सीखना पड़ता है।

पूर्वपक्षी शब्दार्थ-संबन्ध पर पुनः कई आक्षेप करते हैं—१. पहली बार सुनाई पड़ने पर शब्द का अर्थ ज्ञात न होना इस संबन्ध को कृतक (अनित्य, उत्पाद्य) सिद्ध करता है। शब्द कई बार सुनने के बाद अर्थ उत्पन्न होता है। २. दोनों में स्वभावतः संबन्ध का अभाव है क्योंकि शब्द तो मुख में रहता है, अर्थ भूमि पर रहता है। 'गौः' शब्द मुख से निकलता है, किन्तु इसका अर्थ गोशाला में गाय के रूप में है। ३. ऐसा व्यवहार होता है—यह शब्द है, अर्थ नहीं है, यह अर्थ है, शब्द नहीं है। यह दोनों का संबन्ध-विच्छेद सूचित करता है। ४. दोनों में रूप का भी भेद है। गौ शब्द का उच्चारण होता है, उसके अर्थ का बोध होता है। अतः शब्द तथा अर्थ भिन्न हैं—उनके बीच संबन्ध उत्पन्न किया जाता है, स्वाभाविक नहीं है।

इन सबों का संयुक्त उत्तर यही होता है कि संबन्ध करने वाले किसी पुरुष के अभाव में यह संबन्ध अपौरुषेय है।^२ इसका विवेचन अभी आगे किया जाता है।

शबरस्वामी इस शब्दार्थ-संबन्ध-विवेचन के क्रम में इन तीनों के स्वरूप की मीमांसा करते हैं—१. शब्द क्या है ? २. अर्थ क्या है ? ३. संबन्ध क्या है ?

शब्द-स्वरूप—श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य वर्णों के समूह को ही शब्द कहते हैं। 'गौः' में ग, औ तथा विसर्ग ये तीनों उस शब्द के अवयव हैं—ऐसा वृत्तिकार उपवर्ष का अभिमत है। लौकिक व्यवहार में श्रवण के योग्य विषय को ही शब्द कहते हैं (श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः)। ये तीनों वर्ण श्रोत्रग्राह्य होने के कारण शब्द हैं।

इस शब्द-विषयक सिद्धान्त पर स्फोटवादी वैयाकरणों का आक्षेप होता है। वैयाकरण स्फोटात्मक शब्द को नित्य मानते हैं; शब्द का वर्णात्मकरूप तो कार्यमात्र है, शब्द का मूलरूप नहीं। यदि शब्द वर्णात्मक है तब तो उससे अर्थबोध नहीं हो सकता। एक-एक अक्षर के ज्ञान से शब्दार्थ की उपलब्धि साक्षात् नहीं होती। इन अवयवभूत वर्णों के

१. शा० भा०—उच्यते, सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाणम्। (दर्शनम् = लोकव्यवहारः—प्रभा)।

२. शा० भा०—पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथं सम्बन्धो नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाण-स्याभावात्। तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्।

अतिरिक्त (आपके सिद्धान्त में) कोई अवयवी या समुदाय नहीं है जिससे अर्थ का बोध हो सके । वर्ण भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न होते हैं, उनसे अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती । अतः गकारादि वर्णों से भिन्न कोई गो-शब्द है जो अर्थ का बोध कराता है—इसी समुदाय-रूप को हम स्फोट कहते हैं । यदि आप (मीमांसक) स्मृति का आश्रय लेकर कहें कि शब्द के अन्तर्हित हो जाने के बाद भी पूर्ववर्णों के स्मरण से अर्थबोध होगा तो यह भी ठीक युक्ति नहीं क्योंकि स्मृति स्वयं क्षणिक है, अक्षरों के समान ही उसकी भी गति है ।

इस आक्षेप के उत्तर में शबर का कहना है^१ कि प्रत्येक वर्ण अपने उच्चारण के बाद अपना संस्कार छोड़ देता है तथा इस प्रकार सभी पूर्ववर्णों के साथ मिलकर अन्तिम वर्ण ही शब्द से अर्थबोध कराता है । लोकव्यवहार में समुदाय-रूप शब्द अपने अवयवभूत वर्णों से भिन्न नहीं देखा जाता । अतः अक्षरों से शब्द को भिन्न मानने का प्रस्ताव ठीक नहीं लगता । अक्षरों से संस्कार होते हैं, संस्कारों से अर्थबोध होता है—इस प्रकार अर्थ-बोध में भी अक्षर ही तो निमित्त हैं ।^२ प्रत्यक्षतः गकारादि वर्णों से 'गोः' शब्द का भेद नहीं मिलता, प्रत्युत अमेद ही मिलता है अतः 'गोः' में गकारादि-विसर्गान्त पद जिसे मानते हैं, अक्षरों का ही दूसरा नाम है । अतः शबर का निष्कर्ष है—तस्मादक्षराण्येव पदम् ।

अर्थ-स्वरूप—'गोः' शब्द का अर्थ मीमांसकों के मत से आकृति (जाति) है जो सास्ना, पुच्छ, विपाणादि लक्षणों से निरूपित होती है । यह जाति सिद्ध वस्तु है साध्य नहीं, क्योंकि यह प्रत्यक्षगम्य है । जिसका प्रत्यक्ष होता है वह सिद्ध ही होगा । जैमिनि ने इसे सूत्र (१।३।३३) में ही दिया है—आकृतिः शब्दार्थः । उस स्थान पर शबर ने इसका सम्यक् विवेचन किया है । उसका सारांश यह है—समस्या यह होती है कि शब्द का अर्थ किसे मानें, जाति को या व्यक्ति को ? जाति वह तत्त्व है जो कई पदार्थों में समानरूप से उपलब्ध हो । इसके विपरीत व्यक्ति में कुछ असामान्य या विशिष्ट लक्षण रहते हैं । जब हम 'गोः' शब्द सुनते हैं तो सभी गायों में समानरूप से प्राप्य जाति का ही प्रत्यय हमारे मन में उत्पन्न होता है, किन्तु कार्यों में गो-व्यक्ति से व्यवहार होता है । इसलिए संदेह होता है कि अर्थ क्या है ?

व्यक्ति को अर्थ मानने वालों की तीन युक्तियाँ हैं—१. यदि जाति को शब्दार्थ माना जाय तो मारना, धोना, काटना इत्यादि क्रियाओं से संबद्ध विधियों की असिद्धि हो जाएगी । मारना (आलम्बन) आदि क्रिया जाति (यथा—गो-जाति) की नहीं हो सकती; इसका संबन्ध व्यक्ति से ही है । २. यदि जाति को शब्दार्थ मानें तो द्रव्य में रहनेवाले गुणों का बोध कराने के लिए कोई शब्द ही नहीं रहेगा । 'दक्षिणा में छह गायें दी जायें'—ऐसी विधियों में छह गायों की असिद्धि हो जाएगी । संख्या-रूप गुण यहाँ व्यक्ति का ही बोधक है । ३. एक वैदिक-विधि है कि यदि यज्ञीय-पशु भाग जाए तो उसी वर्ण तथा आयु का दूसरा पशु लाना चाहिए । जाति को शब्दार्थ मानने की स्थिति में दूसरे पशु को लाने का प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि वह तो उसी जाति का है । अतः पूर्वपक्षी व्यक्ति को शब्दार्थ मानने का आग्रह करते हैं ।

१. पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः ।

२. शा० भा०—अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिरिति सम्भवत्यर्थप्रतिपत्ता-वक्षराणि निमित्तम् ।

सिद्धान्तपक्षियों का मत है कि क्रियाओं में भी जाति ही शब्दार्थ है। 'इयेन (वाज) के समान वेदिका बनायें' इस विधि में यदि व्यक्ति शब्दार्थ रहे तो इयेन-पक्षी (व्यक्ति रूप में) लाना असंभव होने के कारण विधि अनुपपन्न हो जायगी। जाति (आकृति) के शब्दार्थ रहने में यह कठिनाई नहीं आती, क्योंकि इयेन की आकृति की वेदिका सामान्य-रूप से बनायी जा सकती है। पुनः यदि शब्द व्यक्तिमात्र का बोधक है तब उसी वर्ग के अन्य व्यक्ति के लिए उसका प्रयोग नहीं होगा। वैसे स्थिति में यदि आप कहें कि अन्य व्यक्ति के लिए प्रयोग होगा ही,—तो 'गौ' शब्द का दूसरे गौओं के लिए जिस प्रकार प्रयोग करेंगे वैसे ही अश्व, महिष आदि के लिए भी प्रयोग क्यों न हो ? पुनः, व्यक्ति को शब्दार्थ मानेंगे तो नवजात गाय के बछड़े के लिए 'गो' का प्रयोग नहीं होगा। 'गौरयम्' के रूप में जो व्यवहार होता है उसमें 'गौ' की व्यापक कल्पना असिद्ध हो जायगी। व्यवहारतः हम ऐसा नहीं देखते कि शब्द का प्रयोग एक व्यक्ति के लिए हो, दूसरे के लिए नहीं।

शबर ने नैयायिकों के पतद्-विषयक सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। गौतम जाति तथा व्यक्ति दोनों को शब्दार्थ मानकर इनके बीच वक्ता की इच्छा के अनुसार पौर्वापर्य मानते हैं। तदनुसार कहीं जाति प्रधान, कहीं व्यक्ति प्रधान होता है। दूसरा अप्रधान हो जाता है। शबर कहते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध है कि शब्द द्वारा जाति का ही बोध होता है, व्यक्ति का बोध जाति के बोध के अनन्तर ही होता है, अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तिविशिष्ट जाति सिद्धान्त दोषपूर्ण है। व्यक्ति-बोध जाति के द्वारा होता है, उससे विशिष्ट नहीं है।

इसी आधार पर पूर्वपक्षियों की युक्तियों का खण्डन हो सकता है। १. जाति के द्वारा व्यक्तियों का बोध संभव होने से क्रियाओं के साथ उसका संबन्ध होने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जाति का ही बोध शब्दार्थ से होता है किन्तु व्यक्ति भी उससे लक्षित हो जाता है अथवा अविनाभावतया गृहीत होता है, जैसे—'गौरनुबन्धः' में। २. छह गायों की दक्षिणा में भी यही बात है—जाति के रूप में गायें द्रव्य की विशेषता बतलाती हैं तथा उसे लक्षित करती हैं। ३. दूसरे पशु को लाना आदेश (एक के स्थान पर दूसरा लाना) मात्र है। यहाँ जाति वास्तविक आदेश को लक्षित करती है। अतः जाति ही शब्दार्थ है।

संबन्ध-स्वरूप—शब्दार्थ-संबन्ध का तात्पर्य यही है कि शब्द का ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होता है। इसे ही संज्ञा तथा संज्ञी का या वाच्य तथा वाचक का संबन्ध भी कहते हैं। ये तीनों शब्द, अर्थ तथा उनके बीच का संबन्ध नित्य है। वैयाकरण भी इन्हें सिद्ध अर्थात् नित्य ही मानते हैं—सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे (कात्यायन)।

शब्दार्थसंबन्ध की नित्यता (अनादि होना) के विषय में शबर का कथन है कि इसे उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है (यहाँ तक कि ईश्वर भी नहीं)। संबन्धोत्पादक पुरुष में न तो प्रत्यक्ष-प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, न तदाश्रित अन्य प्रमाणों की। ऐसा पुरुष कितना ही

१. तुलनीय,—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास में जात्यादि उपाधियों का विवेचन—

यद्यपि हमारे दैनिक प्रयोजनों की सिद्धि में व्यक्ति ही उपयोगी है किन्तु आनन्त्य तथा व्यभिचार-दोषों के कारण उसमें संकेत करना संभव नहीं, अतः जात्यादि उपाधियों में ही संकेत होता है।

प्राचीन क्यों न हो, उसका स्मरण तो किया जाता है। कभी-कभी स्मृति की परंपरा का विच्छेद भी होता है, क्योंकि स्मरण रखने वाले पुरुष का कुल या देश नष्ट हो जाता है। किन्तु प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाले शब्दार्थ-संबन्ध के विषय में स्मृति-परंपरा का विच्छेद नहीं हो सकता। यदि पुरुष ने शब्दार्थ-संबन्ध कभी भी उत्पन्न किया होगा तो सभी लोग उन शब्दों का व्यवहार करने के समय उस संबन्धकर्ता का भी स्मरण करते। कारण यह है कि संबन्धकर्ता तथा व्यवहारकर्ता की सहमति होने पर ही अर्थ (वेदवाक्यों के अर्थ) का निश्चय होगा। वृद्धि शब्द का व्यवहार करते समय पाणिनि का स्मरण होता है कि उन्होंने वृद्धि और आदैच् का संबन्ध किया था। इस प्रकार शब्दार्थ-संबन्ध का कोई कर्ता न मिलने से इसे अनादि, नित्य तथा अपौरुषेय मानते हैं।

वस्तुतः वृद्धिव्यवहार से इस अनादि संबन्ध का ज्ञान एक पुरुष को मिलता चला जाता है। इस प्रकार परंपरा से यह ज्ञान आता है। इस संबन्ध का व्यतिरेक या अभाव कभी हुआ ही नहीं; न किसी देश में, न किसी काल में। इसका कारण यह है कि यदि संबन्ध का अभाव रहा होता तो कभी संबन्ध किया गया होगा। अब प्रश्न यह है कि शब्दार्थ-संबन्ध को पहली बार उत्पन्न करने वाले ने किन शब्दों के द्वारा संबन्ध हो जाने की घोषणा की? जिन शब्दों का उसने प्रयोग किया उनमें कुछ तो अर्थ होंगे—उनका संबन्ध किसने पहले स्थापित किया? इस प्रकार प्रश्न करते चले तो अनवस्था होगी। यदि इससे बचने के लिए कहें कि स्वतःसिद्ध संबन्धवाले शब्दों का प्रयोग पहली बार हुआ था तो संबन्ध की अपौरुषेयता ही सिद्ध होगी।^१

संबन्ध की अपौरुषेयता का एक अन्य कारण भी है। 'देवता' इत्यादि शब्दों के अर्थ तो अदृश्य हैं, इन पदार्थों का बोध कराने के लिए संज्ञाकरण न केवल अनर्थक होगा, अपितु असंभव भी होगा। विशेष वस्तुओं का बोध कराने के लिए तथा उन विशेषों को लक्षित करके ही संज्ञाएँ बनायी जाती हैं—तभी जब हमें उनके सामान्यरूपों का ज्ञान रहता है। देवता आदि के विषय में न तो हम सामान्य ही जानते हैं, न विशेष ही—इसीलिए ऐसे पदार्थों के लिए शब्द तथा अर्थ का संबन्ध कृतक नहीं हो सकता। सर्वथा अनुपलब्ध पदार्थों में संज्ञाकरण की कठिनाई देखकर ही यह युक्ति दी गयी है।

शबर का उक्त विवेचन वृत्तिकार उपवर्ष के मत पर आश्रित है। फिर भी अपनी शैली में समाविष्ट कर लेने से इसके कर्तृत्व का श्रेय शबरस्वामी को ही मिलता है।

पञ्चम सूत्र के अपने दीर्घकाय भाष्य में शबर ने अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया है जैसे—भाष्य के आरंभ में प्रत्यक्ष-प्रमाण का विवेचन करते हुए निरालम्बनवाद का खण्डन। वौद्धों के द्वारा प्रवर्तित उक्त मत के दोष दिखाकर उन्होंने अत्यन्त सरल रीति से सिद्ध किया है कि समस्त प्रत्यक्षज्ञान अर्थ पर आश्रित होता है। प्रत्यक्ष में तो व्यपदेश (अर्थग्रहण) अवश्य होता है, किन्तु वृद्धि व्यपदेश नहीं होने के कारण अप्रत्यक्ष होती है।

आत्मा—दूसरा प्रश्न प्रायः भाष्य के अन्त में आत्म-विषयक विवेचन है। प्रसंग यह हुआ है कि 'यज्ञायुधी' यजमान के स्वर्गलोक जाने की बात को लेकर पूर्वपक्षियों ने वेदवाक्यों की असत्यता दिखलायी है। इसी पर शबर कहते हैं कि स्वर्ग जाना शरीर से संभव

१. शा० भा० (१।१।५)—तस्मादवश्यमनेन संबन्धं कुर्वताऽकृतसंबन्धाः केचन शब्दा वृद्ध व्यवहारसिद्धा अभ्युपगन्तव्याः।

नहीं, जिस (आत्मा) का वह शरीर है, वह यज्ञायुधी है, वही स्वर्ग जाता है। प्राणादि (साँस लेना) की क्रियाओं से उस आत्मा का अनुमान होता है। ये क्रियाएँ शरीर में अवश्य होती हैं; किन्तु इनका संबन्ध आत्मा से है; क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर यथापूर्व है, ये क्रियाएँ नहीं रहती। शरीर में रूपादि गुण होते हैं जो मृत्यु के बाद भी है, किन्तु प्राणादि क्रियाएँ उससे पृथक् हो जाती हैं।

पुनः, सुख-दुःखादि (आत्म-धर्म) का ज्ञान स्वयं पुरुष को होता है जबकि रूपादि (शरीर के धर्म) का ज्ञान दूसरे लोग भी कर लेते हैं—यह शरीर तथा आत्मा को पृथक् सिद्ध करता है। इस प्रकार पुरुष में दुःख-सुखादि के रूप में कुछ गुण हैं जो साक्षात् रूप से उसी को ज्ञात होते हैं। इस प्रकार वह 'यज्ञायुधी' जो स्वर्ग जाता है, अवश्य ही शरीर से भिन्न तत्त्व है।

पूर्वपक्षी यहाँ कहते हैं कि सुखादि ज्ञान की सत्ता होने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि इन्हें धारण करनेवाली कोई आत्मा है। सुखादि से भिन्न सुखादिमान् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है, यह सुखादि ज्ञान ही स्वतःपूर्ण है। तब उत्तर होगा कि ज्ञान एक क्रिया है, उसका कोई कर्ता अवश्य होगा—यह कर्ता क्रिया से भिन्न होगा। ज्ञान, इच्छा इत्यादि क्रियाओं के कर्ता को ही हम आत्मा कहते हैं। यहाँ शबर ने ईषद् विस्तार के साथ विशानवादियों का खण्डन किया है।

आत्मा के विषय में स्मृति को भी आधार मान सकते हैं। पूर्वदिन में देखी हुई वस्तु की स्मृति जो दूसरे दिन होती है उससे भी आत्मा की सिद्धि होती है। आत्मा इस पूरे समय में एक ही है तभी तो स्मृति करती है। दूसरे के देखे पदार्थ का दूसरा व्यक्ति स्मरण नहीं करता (नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः)। कोई पुरुष आत्मा का स्वयं साक्षात् ज्ञान कर सकता है, इसीलिए इसे 'स्वसंवेद्य' कहा गया है। एक की आत्मा का साक्षात् ज्ञान दूसरे पुरुष को नहीं होता। फिर भी उपनिषदों में प्रतिपादित विधि से इसका ज्ञान दूसरे को तो कराया ही जा सकता है। यह ज्ञान (आत्मोपदेश) 'आत्मा ऐसी है' इस रूप में दिया नहीं जा सकता अपितु 'नेति नेति' (आत्मा यह नहीं है, यह नहीं) की पद्धति से आत्मा का ज्ञान कराया जा सकता है—सुखादि आत्मा नहीं, प्राण आत्मा नहीं इत्यादि। जब कोई स्वयं अपनी आत्मा को देख लेता है तब अन्य लोगों में भी समानरूप से आत्मा होने का अनुमान कर लेता है।

आत्मा नित्य है, इसका उच्छेद नहीं होता, किन्तु इन्द्रियादि क्षणिक पदार्थों के संसर्ग में यह आती है।^१

शब्द की नित्यता—शब्द की नित्यता की सिद्धि जैमिनि ने ही मीमांसादर्शन के तर्कपाद में छोटे से लेकर २३ वें सूत्र तक की है। इनमें ६-११ तक सूत्र (कुल छह सूत्र) पूर्वपक्ष के दृष्टिकोण का परिचय देते हैं जिनमें शब्द-नित्यत्व के विरोध में युक्तियाँ दी गई हैं। शेष सूत्र इन युक्तियों के खण्डन में या नित्यत्व के समर्थन में हैं। हम सर्वप्रथम पूर्वपक्षियों की आशंकाओं का निरूपण करें।

(१) शब्द इसलिए अनित्य है कि पुरुष के द्वारा प्रयत्न किये जाने के बाद इसकी

१. आत्मा का विवेचन वस्तुतः मीमांसा-दर्शन का आनुषंगिक विषय है, मुख्य नहीं। इसीलिए कुमारिल ने विशेष ज्ञान के लिए वेदान्त के अध्ययन का उपदेश दिया है।

उत्पत्ति देखी जाती है। (कर्मके तत्र दर्शनात्—सू० ६)। पुरुष-प्रयत्न तथा शब्द में कारणकार्यभाव है। बिना प्रयत्न के शब्द उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह कृतक है।

(२) उच्चारण किये गये शब्द को क्षणभर भी हम स्थिर नहीं देखते (अस्थानात्—सू० ७)। उच्चारित होते ही यह नष्ट हो जाता है—यही पता लगता है।

(३) शब्दों के संबन्ध में 'करोति' (उत्पन्न करता है) जैसी क्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं जैसे—शब्दं कुरु। इससे ज्ञात होता है कि शब्द को उत्पन्न किया जाता है (करोति-शब्दात्—सू० ८)।

(४) यदि शब्द नित्य होता तो एक होता जैसा कि सभी नित्य पदार्थ सामान्यतया एकरूप होते हैं। किन्तु हम शब्द को एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थलों में उच्चारित होते पाते हैं (सत्त्वान्तरे च योगपथात्—सू० ९)। यह सिद्ध करता है कि नाना-स्थानों में प्रयुक्त होने वाला शब्द अनित्य है।

(५) शब्द के संबन्ध में हम प्रकृति-विकृति-भाव देखते हैं, जैसे इ का य् हो जाना—दधि+अत्र = दध्यत्र। इ प्रकृति है, य् विकृति। इसका अर्थ है कि जब शब्द में विकार हो सकता है तब यह नित्य नहीं हो सकता (प्रकृतिविकृत्योश्च—सूत्र १०)।

(६) अन्त में, शब्द की अनित्यता के लिए यह युक्ति है कि शब्द को उत्पन्न करने वाले वक्ताओं के आधिक्य से शब्द में भी वृद्धि होती है, बहुत अधिक ध्वनि हो जाती है (वृद्धिश्च कर्तृभूनाऽस्य—सू० ११)। यदि नित्य शब्द अभिव्यंज्य होता तो कुछ व्यक्ति बोलें या अधिक व्यक्ति बोलें, शब्द उतना ही रहता। इससे अनुमान होता है कि एक-एक व्यक्ति के द्वारा शब्द के अवयवों को उत्पन्न किया गया है जिससे इतनी तीव्रता से ध्वनि हुई।

अब उत्तरपक्ष की ओर से इनमें प्रत्येक युक्ति का खण्डन किया जाता है—

(१) प्रयत्न के बाद शब्दोत्पत्ति का जो आक्षेप हुआ है वह इसलिए असंगत है कि शब्द नित्य भी हो तो भी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न लगेगा ही। यदि हम दूसरे स्पष्ट तर्क से शब्द को नित्य सिद्ध कर दें तो भी प्रयत्न आवश्यक ही है। शब्द नित्य हो, या अनित्य—दोनों स्थितियों में प्रयत्न आवश्यक है (समं तु तत्र दर्शनम्—सू० १२)। अनित्यपक्ष में शब्द की उत्पत्ति के लिए तथा नित्य-पक्ष में उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न होता है।

(२) शब्द के उच्चरित तथा नष्ट होने का आक्षेप भी व्यर्थ है। वास्तव में शब्द का सुनाई पड़ना संयोग-विभाग के कारण ही है। शब्दोपलब्धि का निमित्त वही है। इसी संयोग-विभाग से शब्द अभिव्यक्त होता है, वह उत्पन्न नहीं होता। उच्चारण-संस्थान के प्रयत्नों से वायु में अभिघात होता है, इस अभिघात से वायु दूसरी वायु को प्रेरित करती है—प्रेरणा की यह परंपरा चलती है और सभी दिशाओं में संयोग-विभाग उत्पन्न होते हैं। वेग के अनुसार संयोग-विभाग बढ़ते चले जाते हैं। वायुतरंगों के कारण शब्द श्रवणगोचर होते हैं, तरंगों के न रहने पर सुनाई नहीं पड़ते हैं। यही उच्चरित तथा नष्ट होने का रहस्य है। तात्पर्य यह कि वायु के संयोग-विभाग ही नित्य शब्द को अभिव्यंजित करते हैं। उच्चारण के बाद भी शब्द रहता है, किन्तु संयोग-विभाग-रूप अभिव्यंजक के अभाव में सुनाई नहीं पड़ता (सतः परमदर्शनं विषयानागमात्—सू० १३)।

(३) 'शब्दं कुरु' का अर्थ शब्द को उत्पन्न करना नहीं है, शब्द का प्रयोग करना है।

शब्द के नित्य होने पर 'शब्दप्रयोग' कुरु' कहने में असंगति नहीं है (प्रयोगस्य परम्—सू. १४) ।

(४) शब्द के युगपत् अनेक देशों में श्रवण की युक्ति भी ठीक नहीं । सूर्य एक है, एक देश अवस्थित है किन्तु एक ही साथ अनेक देशों में अवस्थित-जैसा दिखलाई पड़ता है । जब शब्द एक ही रूप का है और वह अनेक देशों में सुनाई पड़ता है तो भिन्नता देशों में ही है, शब्द में नहीं (आदित्यवद् योगपद्यम्—सू. १५) ।

(५) पूर्वपक्षी जो इ का विकार य् को मानता है, वह ठीक नहीं । दोनों दो पृथक् वर्ण हैं । ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि जैसे चटार्थ बनाने के लिए लोग वीरण-वास (खस) का ग्रहण करते हैं, या दही बनाने के लिए दूध लेते हैं वैसे ही य् का प्रयोग करने के लिए इ का उपादान करें । तथ्य यह है कि दोनों वर्णों में सादृश्य है—सादृश्यमात्र देख-कर प्रकृति-विकृति-भाव मान लें,^१ यह ठीक नहीं है (वर्णान्तरमविकारः—सू. १६) ।

(६) अनेक वक्ताओं के एक साथ बोलने से जो तीव्र ध्वनि उठती है वह नाद की वृद्धि है, शब्द की नहीं । शब्द का कोई अवयव नहीं होता कि प्रत्येक पुरुष के द्वारा प्रयुक्त होने पर उसमें प्रचय या वृद्धि हो । हाँ, आवाज अवश्य जोरों की होती है । भिन्न-भिन्न पुरुषों के द्वारा मृदु ध्वनि का उच्चारण होता है तो वे ही अक्षर श्रवण-रन्ध्र के संपूर्ण मण्डल को निरंतर संयोग-विभाग के कारण भरने लगते हैं जिससे 'महान्-शब्द' (तीव्र ध्वनि) हो जाता है । निरंतर संयोग-विभाग होने से जब शब्द की अभिव्यक्ति होती है तब उसे नाद कहते हैं^२ (नादवृद्धिपरा—सू. १७) ।

यहाँ तक जैमिनि शब्द-नित्यत्व की सिद्धि निपेधात्मक प्रक्रिया से करते हैं, क्योंकि पूर्वपक्षियों की संभावित आशंकाएँ उपस्थित करके उनका उत्तर देते हैं । इसके बाद कुछ सूत्रों में वे शब्द-नित्यत्व की साधक युक्तियाँ देंगे—

(क) नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्—शब्द इसलिए नित्य है कि इसका प्रयोग (दर्शन) दूसरे व्यक्तियों के उपयोग के लिए—उन्हें अर्थ बोध कराने के लिए—होता है । यदि उच्चारण के अनन्तर शब्द का नाश हो जाए तो कोई व्यक्ति किसी दूसरे से कुछ कह ही नहीं सकेगा । दूसरी ओर यदि शब्द नित्य माना जाए तभी यह स्वाभाविक होगा कि पुनः पुनः उच्चारित होने तथा सुने जाने के अनन्तर इसका अर्थ अन्य व्यक्तियों को समझ में आ जाए ।^३ प्रत्येक अनुवर्ती शब्द तथा उसके अर्थ में संबन्ध की स्थापना करते चलना असंभव होता है—इसलिए बार-बार सुनने से अर्थ बोध होता है । यदि पूर्व में सुने गये शब्द के सादृश्य से अनुवर्ती शब्द का अर्थ बोध हो, तो इस स्थिति में अयथार्थ बोध होने की संभावना रहती है जैसे—शाला शब्द से माला का बोध हो जाए । अतः शब्द बही रहता है, बार-बार सुनाई पड़ता है । अनित्य मानेंगे तो प्रत्येक बार नया

१. शा० भा० (१।१।१६)—न हि दधिपिटकं दृष्ट्वा कुन्दपिटकं च प्रकृतिविकार-भावोऽवगम्यते ।

२. शा० भा० (१।१।१७)—संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्दवाच्याः ।

३. शा० भा० (१।१।१८)—अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तम् ।

शब्द सुने जाने का प्रसंग हो जायगा। यदि प्रत्येक बार नवीन 'गो' शब्द सुनाई पड़ता है जो पूर्व में सुने गये शब्द के समान है तो दो स्थितियाँ उत्पन्न हो जायँगी—१. नवीन शब्द का प्रयोग हो रहा है, २. नये शब्द का अपने अर्थ के साथ संबन्ध जानना है। यह उचित नहीं। इसलिए शब्द नित्य है, एक ही शब्द पुनः पुनः सुना जाता है। हमारा शब्द-प्रयोग दूसरों को अर्थ बोध कराने के लिए होता है।

(ख) सर्वत्र यौगपद्यात्—गो शब्द का उच्चारण करने पर एक ही साथ यह शब्द सभी गौओं का प्रत्यय उत्पन्न करता है। इसलिए यह आकृति या जाति का वाचक है। जाति के साथ शब्द का संबन्ध उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो भी व्यक्ति संबन्ध करने वाला होगा वह जाति का निर्देश करके ही संबन्ध उत्पन्न करेगा। उसे कहना होगा कि 'गौ शब्द इस जाति का बोधक माना जाए'। इस निर्देश के पूर्व तक तो संबन्ध बना ही नहीं होगा तब वह गो-शब्द का प्रयोग किये बिना किस प्रकार इस विशिष्ट जाति का उपदेश कर सकेगा? अधिक-से-अधिक वह एक गो-व्यक्ति के पिण्ड (गाय के शरीर) को दिखा सकता है, किन्तु उस शरीर में तो कई जातियों की सत्ता है जैसे पृथ्वी, द्रव्य इत्यादि। अतः शब्द की अनित्य की स्थिति में जाति (अर्थ) के साथ शब्द का संबन्ध दिखाना असंभव है।

किन्तु यदि शब्द को नित्य मान लें तो कठिनाई का हल निकल जाता है। नित्य 'गो' शब्द होने पर वही शब्द बार-बार सुना जायगा, पूर्व में भी कई बार सुना जा चुका है तथा विभिन्न गो-व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा व्यतिरेक से वह शब्द आकृति या जाति का बोध करा सकता है। इसलिए भी (शब्द के जातिवाचक होने के कारण) शब्द नित्य है।

(ग) संख्याभावात्—लोक में व्यवहार होता है कि गो-शब्द का उच्चारण आठ बार किया गया। कोई ऐसा नहीं कहता कि आठ गो शब्दों का उच्चारण हुआ। इससे सिद्ध होता है कि एक ही शब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह शब्द वही है (स एवायं शब्दः)। न हमारा ज्ञान दोषपूर्ण है, न हमारी इन्द्रियों में (ज्ञानकरणों में) कोई दोष है। सभी लोगों को ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इन सभी लोगों के ज्ञान को हम व्यामोह नहीं कह सकते। एक ही शब्द की प्रत्यभिज्ञा को हम अनेक शब्दों का ज्ञान नहीं कह सकते। किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता।

प्रत्यभिज्ञा को हम शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए हेतु के रूप में नहीं दे रहे हैं। हमारा केवल यही कहना है कि शब्द की अनित्यता का पक्ष प्रत्यक्ष-प्रमाण (= प्रत्यभिज्ञा के रूप में) के भी विरुद्ध है। शब्द की अनित्यता की सिद्धि के लिए आप जहाँ केवल अनुमान-प्रमाण को लगाते हैं, वहाँ नित्यता की सिद्धि के लिए अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष का भी समर्थन मिल जाता है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि कल जिस 'गो' शब्द का उच्चारण किया गया था वह तो समाप्त हो गया—इसलिए आज सुनाई पड़ने वाला गो शब्द सर्वथा नवीन होगा। किन्तु तथ्य यह नहीं है। किसी वस्तु को देखकर, कुछ समय तक न देखने पर भी, पुनः देखकर लोग उसे पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है। यह कल्पना भी नहीं आती कि पहली वस्तु नष्ट हो चुकी है और यह सामने वाली वस्तु नयी है। किसी वस्तु की सत्ता

समाप्त होने का अर्थ है कि उसका ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। प्रस्तुत स्थल में तो वस्तुतः शब्द का प्रत्यभिज्ञा के द्वारा, प्रत्यक्ष हो होता है। तब इसकी सत्ता कैसे समाप्त हुई? इस प्रकार शब्द की निरंतर सत्ता का सिद्धान्त ही ठीक है। किसी शब्द को यदि उच्चारित नहीं किया गया हो तो भी उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी का अप्रत्यक्ष होना उसकी असत्ता का कारण नहीं होता।

क्षणभङ्गवादी भी शब्द की नित्यता का विरोध नहीं कर सकते। अन्य वस्तुओं का विनाश देखकर वे क्षणभंग का समर्थन करते हैं। शब्द का विनाश नहीं देखा जाता। अतः शब्द नित्य है।

(घ) अनपेक्षत्वात्—जिन वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, केवल सत्ता दिखलाई पड़ती है; वे वस्तुएँ भी अनित्य ही हैं यदि उनके विनाश का कोई समर्थ कारण प्राप्त हो। नये वस्त्र को बनते आपने नहीं भी देखा हो किन्तु जानते हैं कि इसमें तन्तुओं का समूह है। उस समूह के बिखरने से या तन्तुओं के नाश से वस्त्र नष्ट हो जाएगा। इसलिए वस्त्र को अनित्य मानते हैं। शब्द के विनाश का ऐसा कोई समर्थ कारण नहीं मिलता। अतः शब्द नित्य है।

(ङ) प्रख्याभावाच्च योगस्य—कुछ लोग शब्द का कारण वायु को मानकर शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हैं। शिक्षाकारों ने कहा—‘वायुरापद्यते शब्दताम्’ अर्थात् वायु ही ऊपर उठकर संयोग-विभागों के द्वारा शब्द का रूप ले लेती है। यह तथ्य नहीं है। यदि शब्द वायुजन्य होता तो वायु के धर्म इसमें अवश्य होते। शब्द में न तो वायु के अवयव पाये जाते हैं और न हम शब्द का स्पर्श कर सकते हैं—जबकि वायु का स्पर्श संभव है। अतः वायुजन्य शब्द नहीं होता। इसलिए शब्द नित्य है।

(च) लिङ्गदर्शनाच्च—वैदिक वाक्यों में भी शब्द की नित्यता का निर्देश है। दूसरे प्रसंग में आया हुआ वाक्य शब्द की नित्यता का चोतन करता है—‘वाचा विरूप-नित्यया (रूपरहित तथा नित्य वाणी या शब्द के द्वारा)’। इन सभी तर्कों से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

वाक्य तथा वाक्यार्थ का विवेचन—

धर्मज्ञान के साधन के रूप में जो वैदिक विधि है वह वाक्यात्मक है। शब्दार्थ-संबन्ध को जिस प्रकार नित्य सिद्ध किया गया है उसी प्रकार वाक्यों को नित्य सिद्ध करना आवश्यक है, अन्यथा वैदिक विधिवाक्य धर्मज्ञान के साधन नहीं कहला सकेंगे। इसमें संदेह रह जायगा। शबरादि सभी मीमांसकों ने वैदिक विधिवाक्यों की नित्यता सिद्ध की है। इसी क्रम से सामान्य वाक्यों का भी विवेचन हुआ है।

पूर्वपक्षी कहता है कि शब्द तथा उसका संबन्ध आप भले ही नित्य सिद्ध कर लें, वाक्यों को तो आप ऐसा नहीं कह सकते। पृथक्-पृथक् शब्द नित्य होंगे। उनसे बने वाक्य, वाक्यार्थ तथा दोनों का संबन्ध कैसे नित्य हो सकता है? वाक्य कृत्रिम होते हैं, शब्दों से बनते हैं—चाहे लौकिक हों या वैदिक। (उत्पत्तौ वा वचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्—सू० २४)।

इसके उत्तर में जैमिनि कहते हैं कि वाक्य में अपने-अपने नियत अर्थों से युक्त पदों का

एक क्रियापरक शब्द के साथ मिलकर उच्चारण होता है; पूरे वाक्य का अर्थ उसी क्रिया-परक शब्द पर आश्रित होता है (तद् भूतानां क्रियार्थेन समान्तायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्—सू० २५), किसी वाक्य में दो प्रकार के पदों का संयुक्त उच्चारण (समान्ताय) होता है—भूतार्थवाचक पद (जैसे—ज्योतिष्टोमेन) तथा क्रियावाचक पद जैसे—यजेत । भूतार्थक पदों की संख्या अनियत है, क्रियार्थक पद एक ही होगा । क्रियार्थक पद ही वाक्य में प्रधान होता है । दूसरे शब्दों में, सभी वाक्यों से क्रिया का हो बोध होता है । क्रिया का अर्थ है—साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता से विशिष्ट भावना । जैमिनि तथा शबर के इस विवेचन पर ही प्रभाकर का वाक्यार्थ विवेचन आश्रित है ।

इस प्रकार अपने अन्तर्गत आये हुए पदों के अर्थों से भिन्न वाक्यार्थ नहीं होता । पदों के अर्थों से वाक्यार्थ को भिन्न सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं । यहाँ तक कि वाक्य के अंतिम अक्षर में भी (जो प्रत्येक पूर्ववर्ती अक्षरों के संस्कारों से युक्त है) स्वतंत्र रूप से, पदार्थ-भिन्न अर्थ देने की शक्ति नहीं है ।^१ वस्तुस्थिति यह है कि वाक्यार्थ का बोध कराने के समय वाक्य के सभी शब्द अपना-अपना अर्थ बताकर व्यापार-रहित हो जाते हैं । तब ये ज्ञात पदार्थ ही संपूर्ण वाक्य का अर्थ देते हैं ।^२ शब्दार्थ से हमें किसी गुणसहित वस्तु की ही प्रतीति होती है—कार्त्तव्य वस्तु, द्रव्य वस्तु आदि । वाक्यार्थ से भी गुण सहित वस्तु की ही प्रतीति होती है—एक दूसरे से विशिष्ट शब्दार्थों का बोध होता है । अतः शब्दार्थों से ही वाक्यार्थ बनता है, उसके लिए पृथक् शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है ।

शब्दार्थ तथा वाक्यार्थ की अभिन्नता की सिद्धि अन्वय-व्यतिरेक से भी की जा सकती है । कभी-कभी मानसिक दुरवस्था (जैसे—स्मृतिलोप) के कारण शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं रहता तो ऐसी स्थिति में उन शब्दों से बने वाक्य का अर्थ-बोध भी नहीं हो पाता । यह तथ्य सूचित करता है कि शब्दार्थ और वाक्यार्थ अभिन्न हैं । शब्दार्थों के ज्ञान से वाक्यार्थ-ज्ञान प्राप्त होता है । शब्द-समूह के रूप में वाक्य की पृथक् सत्ता नहीं जो अपना अर्थ अलग से दे ।^३

यह सत्य है कि प्रत्येक शब्द का मुख्य अर्थ (=जाति) वाक्य में नियंत्रित हो जाता है; इसीलिए तो हम वाक्यार्थ को अंगीभूत शब्दों के विशिष्ट अर्थ में स्वीकार करते हैं (शब्दार्थ एक-दूसरे के गुण के रूप में रहते हैं) । किन्तु ऐसा तभी किया जाता है जब अकेला पदार्थ प्रयुक्त होता है तथा किसी प्रयोजन के अभाव में अनर्थक हो जाता है । सिद्धान्त यह है कि शब्दार्थ निर्बन्धवस्था में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिए वाक्य में गृहीत होने पर ही विशिष्ट अर्थ देकर सार्थक हो सकता है ।

पुनः प्रातिपदिक शब्द के बाद लगने वाली द्वितीयादि विभक्तियों स्पष्ट निर्देश करती हैं कि प्रातिपदिक का अर्थ विशेषण होता है, विभक्ति के अर्थ की विशेषता बतलाता है

१. शा० भा० (१।१।२५)—न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनित-संस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वर्तितुम् ।

२. उपरिवत्—पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि । अथेदानीं पदार्थाः अलगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति ।

३. उपरिवत्—तस्मात्पदार्थप्रत्यय एव वाक्यार्थो, नास्य पदसमुदायेन संबन्धः ।

(=उसे नियंत्रित करता है)। सामान्य नियम तो यह है कि द्वितीया-विभक्ति कर्मत्व-सामान्य का बोध कराती है (=‘गाम्’ पद से गोसामान्य का बोध होता है) किन्तु विशेष नियम हुआ कि शब्दविशेष के बाद लगने वाली द्वितीया-विभक्ति कर्मत्व-सामान्य का बोध नहीं कराती, अपितु वस्तुविशेष के कर्मत्व का बोध कराती है अर्थात् ‘गाम्’ पद में गौ से विशेषित कर्म का बोध होता है।

पूर्वपक्षियों की एक युक्ति यह भी है कि पद-समुदाय के रूप में वाक्य वस्तुतः मनुष्यों के द्वारा निर्मित होते हैं अतः शब्द के समान नित्य नहीं हो सकते। पौरुषेय वाक्यों में ऐसा कहना ठीक है किन्तु वेदवाक्यों के विषय में यह आक्षेप ठीक नहीं है। मीमांसकों को वेद-वाक्यों की ही धिन्ता है। वेदवाक्य ही समस्त दोषों से रहित हैं, स्वतः प्रमाण हैं—अतीन्द्रिय विषयों में तो उनकी ही प्रामाणिकता सर्वोपरि है। इसलिए वेदवाक्यों से अतीन्द्रिय अर्थों का संबन्ध स्थापित करने में कोई पुरुष समर्थ नहीं है। इसकी विवेचना अपौरुषेय-प्रकरण में है।

लौकिक वाक्यों की स्थिति भिन्न है। लौकिक अर्थों को प्रत्यक्षतः देखकर उनको अपने वाक्यों में समाविष्ट करके मनुष्यों के द्वारा वाक्य-प्रयोग संभव है (लोके सन्नियमात्प्रयोग-संनिकर्षः स्यात्—सू० २६)। निष्कर्षतः शब्दार्थों के ज्ञान से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है—वह वैदिक वाक्य हो या लौकिक।^१

वेद की अपौरुषेयता—

वैदिक विधियों को जो धर्मज्ञान का एकमात्र अमोघ साधन माना गया है यह तबतक सिद्ध नहीं हो सकता जबतक हम वेद को अपौरुषेय न सिद्ध कर लें। पुरुषकृत वाक्यों में भ्रमादि दोषों की संभावना होती है। इसलिए अनादि शब्दराशि के रूप में वेद की अपौरुषेयता की सिद्धि के लिए मीमांसकों का विशेष प्रयास है। तर्कपाद के अन्त में जैमिनि इसका सम्यक् विवेचन करते हैं। पूर्वपक्ष के संभावित आक्षेपों का उत्तर देकर ही इसकी सिद्धि हो सकती है इसलिए पहले पूर्वपक्षियों की युक्तियाँ देखें।

पूर्वपक्षी वेदों को पुरुषकृत मानने के लिए दो युक्तियाँ देते हैं—(१) वेदों की शाखाओं का नाम विभिन्न पुरुषों के आधार पर देखा जाता है जो निश्चय ही उनके प्रणेता हैं, यथा—वाठक (कठञ्जलि की रचना) कालापक पैप्पलादक इत्यादि। ये समाख्याएँ पुरुष के आधार पर पड़ी हैं। इन पुरुषों के साथ इन शाखाओं का कोई दूसरा संबन्ध नहीं हो सकता—अवश्य ही पुरुष कर्ता है, संहिताएँ कार्य हैं। प्रवचन-संबन्ध के आधार पर नाम-करण होता तो अनेक प्रवक्ताओं के कारण अनेक नाम होते। यहाँ तो असाधारण (विशेष) नाम है जो रचयिता का ही हो सकता है। रचयिता का स्मृति-परंपरा से बोध हो या नहीं—उनका कर्ता कोई अवश्य है (वेदाङ्गचैके संनिकर्ष पुरुषाख्या—सू० २७)। (२) दूसरी युक्ति यह है कि वेद में हमें अनित्य पदार्थों के दर्शन होते हैं, यथा—प्रावाहणि बवर इत्यादि। ऐसी स्थिति में बदर के जन्म से पहले का यह ग्रन्थ नहीं हो सकता अर्थात् वेद अनित्य तथा पौरुषेय है।

मीमांसकों का उत्तर है कि वैदिक विद्वानों के बीच वेद की अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है जिसका आरंभ कभी नहीं हुआ, यह परंपरा अनादि है। इसका प्रतिपादन औत्प-

स्तिकसूत्र में ही किया जा चुका है। इसका अर्थ है कि वेद तथा उसकी विधियाँ नित्य हैं। पूर्वपक्ष की युक्तियों का परिहार करते हुए जैमिनि कहते हैं कि काठक आदि समाख्याएँ इसलिए पड़ी हैं कि उस शाखा-विशेष का प्रवचन कठ ऋषि ने ही पहली बार किया था। केवल एक शाखा का ही अध्ययन करके अन्य शाखाओं का अध्ययन न करनेवाली अपनी विशिष्ट शाखा में प्रकर्ष प्राप्त कर लेता है, इसीलिए कठ आदि के नाम पर ये असाधारण विशेषण लगाये गये हैं।

जो तथाकथित अनित्य नाम वेदों में प्राप्त होते हैं जैसे—ववर आदि, वे ध्वनि की समानता के आधार पड़े हुए नित्य पदार्थों के ही नाम हैं—प्रावाहणि = प्रकृष्ट रूप से बहने वाला, ववर = ऐसी ध्वनि करने वाली वायु। वेदों में पाये जानेवाले नाम पुरुषों के नहीं हैं, वे सामान्य जातिवाचक शब्द हैं। यह संयोगमात्र है कि वे आधुनिक पुरुषों के नामों से मिलते-जुलते हैं।

वेद के वाक्यों पर कुछ दूसरे आक्षेप भी किये गये हैं। कुछ वैदिक वाक्य उन्मत्त वाक्यों के समान अनर्गल हैं जैसे—वनस्पतयः सन्नमासत, सर्पाः सन्नमासत (वनस्पतियों तथा सर्पों ने यज्ञ किया)। ये वाक्य वेद की प्रामाणिकता पर कुठाराघात कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहा जाता है कि वेद के किसी वाक्य को अपने प्रकरण से हटाकर नहीं देखना चाहिए। वेद के सभी वाक्य क्रियापरक हैं—चाहे साक्षात्, चाहे परोक्षतः हों। यदि इस रूप में वेद-वाक्यों का ग्रहण किया जाए तो कोई भी वाक्य निरर्थक या उन्मत्त वाक्यवत् नहीं मिलेगा।

किसी भी क्रिया में तीन अंशों से युक्त भावना रहती है। ये अंश हैं—भाव्य (किमर्थम्), करण (केन) तथा इति कर्तव्यता (कथम्)। ये अंश विभिन्न आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। उदाहरण के लिए ज्योतिष्टोम-वाक्य में विहित क्रिया को लें। इसका भाव्य है स्वर्ग, क्योंकि स्वर्ग के लिए ही ज्योतिष्टोम-क्रिया होती है। करण सोम है। इतिकर्तव्यता है दीक्षणीय आदि अंगों के अनुष्ठान तथा अन्य कर्म। इस प्रकार जिस वाक्य की क्रिया में तीनों आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाए वह उन्मत्त वाक्य नहीं है। स्वर्ग तथा ज्योतिष्टोम का साध्य-साधनभाव कोई पुरुष नहीं जान सकता। ऐसे वाक्यों को नित्य या अपौरुषेय ही माना जा सकता है।

‘वनस्पतयः सन्नमासत’ इत्यादि अर्थवाद हैं, इनका स्तुतिपरक अर्थ है। अचेतन वनस्पति जब यज्ञ कर सकते हैं तब विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना?—इसी प्रकार स्तुति की जाती है। अतः किसी भी वेद-वाक्य पर उन्मत्त वाक्य होने का आक्षेप लगाना असंगत है।

प्रस्तुत प्रयास—शावरभाष्य के तर्कपाद के हिन्दी-रूपान्तर का यह प्रथम प्रयास है। अभी तक मीमांसा-दर्शन के कुछ अत्यन्त प्रचलित पुस्तकों (जैसे—अर्थसंग्रह आदि) को ही हिन्दी-भाषा में आने का अवसर मिला है—वे संस्करण भी सन्तोषप्रद नहीं हैं। मीमांसा-दर्शन का विशाल भवन जिस भूमिका पर अवलम्बित है उस शावरभाष्य का हिन्दी रूपान्तर न होना बहुत ही अधिक खटकता था। शावरभाष्य का भी सारभाग तर्कपाद में ही निहित है, क्योंकि उसी में धर्म-लक्षण, धर्म-प्रामाण्य, शब्दार्थ-संबन्ध, शब्द-नित्यत्व, वेद-वाक्य की प्रामाणिकता तथा अपौरुषेयता का विवेचन है। एक प्रकार से पूरे मीमांसा-दर्शन की आधार-शिला यही है।

इस अंश का हिन्दी-रूपान्तर पाठकों के समक्ष रखते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है। यद्यपि इसकी रूप-रेखा मुख्यतः आधुनिक विश्वविद्यालयों के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनायी गयी है तथापि मुझे विश्वास है कि सभी वर्ग के पाठकों के लिए यह संस्करण उपादेय होगा।

शाबर की भाषा देखने में बहुत सरल है किन्तु वाक्यों का संघटन कहीं-कहीं ऐसा जटिल है कि बिना टीकाओं के भाव स्पष्ट नहीं होता। कुछ स्थानों पर कई प्रकार के अर्थों की संभावना भी बनी हुई है। इस स्थिति में यदि पूर्वाचार्यों की सहायता न मिलती तो मुझ-जैसे साधनहीन व्यक्ति के लिए अर्थ-साक्षात्कार कठिन था। आनन्दाश्रम (पूना) से प्रकाशित पं० वैद्यनाथ शास्त्री की प्रभा-व्याख्या यद्यपि भाट्टमत के अनुसार है, शाबर-भाष्य का सर्वांगपूर्ण अर्थ नहीं देती, तथापि तर्कपाद को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। डा० गंगानाथ झा की पुस्तकों से (शाबरभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद तथा पूर्वमीमांसा) बहुत ही अधिक सहायता ली गई है। डा० उमेश मिश्र की मीमांसा-कुसुमांजलि का संक्षिप्त रूप ईषट् परिवर्तनों के साथ मैंने प्रस्तुत भूमिका में मीमांसा-दर्शन का इतिहास लिखते हुए समाविष्ट किया है, तदर्थ उनका ऋणी हूँ। कुमारिल के श्लोकवार्तिक तथा प्रभाकर की बृहती से भी यदा कदा अस्पष्ट स्थलों के प्रतिपादन में बड़ी सहायता मिली है।

इतने साधनों के होने पर भी इस संस्करण की त्रुटियों से मैं स्वयं परिचित हूँ। इस विषय में यह मेरा प्रथम प्रयास है किन्तु दर्शन-क्षेत्र में 'सर्वदर्शनसंग्रह' (हिन्दी-व्याख्या) का जैसा स्वागत किया गया है, उससे विश्वास होता है कि इसका भी स्वागत लोग उसी प्रकार करेंगे।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ने इसके प्रकाशन का भार स्वीकार करके मीमांसा-जगत का महान् उपकार किया है, तदर्थ मैं उस विख्यात संस्था के संचालक-बन्धुओं का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पटना
जनवरी १, १९७७ }

उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

॥ श्रोः ॥

शाबरभाष्योपेतं

मीमांसादर्शनम्

प्रथमाध्याये प्रथमपादः (तर्कागदः)



अधिकरण-१ (जिज्ञासाधिकरण)

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

इसके बाद इसलिए धर्मविषयक जिज्ञासा [उत्पन्न होती है] ॥ १ ॥

लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यव-
गन्तव्यम् । नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा । एवं
वेदवाक्यान्त्येवैभिर्व्याख्यायन्ते; इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च
व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत ।

लोकव्यवहार में जिन अर्थों में शब्दों की प्रसिद्धि हो, सूत्रों में भी यथासंभव उन शब्दों
को उन्हीं अर्थों का वाचक समझना चाहिए । अध्याहार (अश्रुत पद की कल्पना) आदि
के द्वारा उन शब्दों के अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए, उनमें किसी पारिभाषिक अर्थ
की भी कल्पना नहीं करें । इस प्रकार मीमांसादर्शन के इन सूत्रों के द्वारा वेद के वाक्यों
की ही व्याख्या की जाती है । यदि ऐसा न करें (अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त शब्दों की
व्याख्या करते हुए उन्हें पारिभाषिक अर्थों में लें और उनकी पृथक् व्याख्या करें) तो
प्रयत्नगौरव का प्रसंग (दोष) होगा, क्योंकि उस स्थिति में सूत्र के शब्दों की व्याख्या
करनी होगी और तब सूत्रगत पदों के द्वारा वेदवाक्यों की व्याख्या हो सकेगी ।

विशेष—‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ सूत्र की व्याख्या के क्रम में ‘अथ’ शब्द का अर्थ करने
की भूमिका शबरस्वामी प्रस्तुत करते हैं । इस शब्द का लौकिक अर्थ (आनन्तर्य)
भाष्यकार को अभीष्ट है । इसी लिए वे सूत्रों में आये हुए पदों का लोकप्रयुक्त अर्थ
मानने का सामान्य सिद्धान्त देते हैं । उन्हें पारिभाषिक अर्थ में लेने से या अध्याहार
के द्वारा अर्थ की कल्पना करने से कठिनाई होगी । सूत्रों का लक्ष्य है—वेदगत विधिवाक्यों
की व्याख्या । लौकिक अर्थ में सूत्रपदों को न लेने से इस लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यधिक श्रम

होगा—पहले सूत्रों की ही सरल व्याख्या करनी होगी, तब वेदवाक्यों की। कभी-कभी सूत्रव्याख्या में विशेष परिस्थितियाँ अवश्य आती हैं जब भाष्यकारों को अध्याहार, विपरिणाम आदि का आश्रय लेना पड़ता है या पारिभाषिक पदों की व्याख्या करनी पड़ती है। पारिभाषिक पद शास्त्रमात्र में प्रयुक्त होते हैं, उनका लौकिक अर्थ दूसरा होता है।

भाष्यकार के इस सिद्धान्त (सूत्रों का यथासाध्य लौकिक अर्थ लेना) के विरुद्ध आक्षेप होता है तथा उसका समाधान भी शीघ्र मिल जाता है—

(‘अथ’ शब्द का अर्थ)

तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियायां दृष्टः। न चेह किञ्चिद् वृत्तमुपलभ्यते। भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सत्यनन्तरं धर्मजिज्ञासावकल्पते। तथा हि—प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति। तत्तु वेदाध्ययनम्। तस्मिन् हि सति साऽवकल्पते।

आक्षेप—लोकव्यवहार में तो ‘अथ’ शब्द किसी वृत्त (घटना, कार्य) के ‘अनन्तर’ के अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। यदि प्रस्तुत सूत्र के सन्दर्भ में देखें तो कोई भी ऐसी घटना प्राप्त नहीं होती। किन्तु ऐसी किसी घटना या कार्य का होना आवश्यक है जिसके अनन्तर धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न होगी। यदि ऐसा होगा तभी तो ‘अथ’ शब्द को लोक-प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त सिद्ध करके आप अपने सिद्धान्त की रक्षा कर सकेंगे?

समाधान—वह घटना या कार्य है वेदाध्ययन। इस कार्य के होने पर ही धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न होगी। [इस प्रकार हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं।]

नैतदेवम्। अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता, प्रागपि च वेदाध्ययनात्।

उच्यते—तादृशीं तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्याथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः। या वेदाध्ययनमन्तरेण न सम्भवति। कथम्? वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तिष्यते।

[पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है—] आपका यह कहना कि वेदाध्ययन के बाद धर्म-जिज्ञासा होती है, उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य कार्यों के (जैसे बुद्ध या महावीर के वचनों का अध्ययन) अनन्तर भी धर्मजिज्ञासा हो सकती है, भले ही वेदों का अध्ययन नहीं किया गया हो।

इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस ‘अथ’ (अनन्तर) शब्द का प्रयोग आचार्य (जैमिनि) ने उस विशेष प्रकार की धर्म-जिज्ञासा को दृष्टिगत करते हुए किया है जो वेदाध्ययन के बिना संभव नहीं। [दूसरे कार्यों के बाद धर्मजिज्ञासा होती होगी किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में वेदाध्ययन के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली धर्मजिज्ञासा से ही जैमिनि का अभिप्राय है।] इसका क्या कारण है? सुनिये—यहाँ इस धर्मजिज्ञासा के क्रम में वेद-वाक्यों का अनेक प्रकार से विवेचन होगा। (यदि वेदों का अध्ययन पहले से नहीं हुआ रहेगा तो उनका विवेचन कैसे हो सकेगा?)

अपि च नैव व्यभिह वेदाध्ययनात्पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं शिष्यः,
परस्ताच्चाानन्तर्यम् । नह्येतदेकं वाक्यं पुरस्ताच्च वेदाध्ययनाद् धर्मजिज्ञासां
प्रतिषेधिष्यति, परस्ताच्चाऽऽनन्तर्यं प्रकरिष्यति ।

इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना चाहिए कि हम इस स्थान पर ऐसा निर्देश नहीं
कर रहे हैं कि वेदों के अध्ययन के पूर्व धर्मविषयक जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होगी तथा
अध्ययन के बाद तुरत ही उक्त जिज्ञासा उत्पन्न हो जायगी । यह एक वाक्य (अर्थात्
धर्मजिज्ञासा) वेदाध्ययन के पूर्व धर्मजिज्ञासा [नहीं हो सकती—इस प्रकार] का प्रतिषेध
नहीं कर सकता और न इस बात का विधान ही कर सकता है कि वेदाध्ययन के बाद
धर्मजिज्ञासा तुरत उत्पन्न होगी ।

भिद्येत हि तथा वाक्यम् । अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य, पुरस्ताद् वेदाध्यय-
नाद्धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधति । अन्या च परस्तादानन्तर्यमुपदिशति । 'वेदानधीत्य०'
(मनुस्मृतिः ३।२) इत्येकस्यां विधीयतेऽनूद्य आनन्तर्यम्, विपरीतमन्यस्याम्,
अर्थकत्वाच्चैकवाक्यतां वक्ष्यति ।

यदि उपर्युक्त प्रकार से (वेदाध्ययन के पूर्व धर्मजिज्ञासा-प्रतिषेध तथा अध्ययन के
अनन्तर अविलम्ब जिज्ञासा-विधान) कार्य होता तो प्रस्तुत सूत्र में दो पृथक् वाक्य हो
जाते । उस वाक्य की रूपरेखा (वचनव्यक्ति) दूसरी होगी जो वेदाध्ययन के पूर्व धर्म-
जिज्ञासा का प्रतिषेध करता है । पुनः, वह वाक्य भी पृथक् होगा जो वेदाध्ययन के अनन्तर
धर्मजिज्ञासा के अविलम्ब होने का उपदेश करता है ।

उदाहरणार्थ 'वेदों का अध्ययन करके [धर्मविषयक जिज्ञासा करे]' इस प्रकार की
एक वचनाभिव्यक्ति होगी जिसमें अध्ययन का उल्लेख करके (अनूद्य) जिज्ञासा के
आनन्तर्य का विधान किया जायेगा । पुनः दूसरी वचनाभिव्यक्ति होगी, जिसमें ठीक
विपरीत प्रकार का वाक्य होगा (= वेदाध्ययन के पूर्व धर्मजिज्ञासा नहीं हो सकती) ।
सूत्रकार स्वयं इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे कि जब कई शब्द मिलकर एक ही अर्थ का
प्रतिपादन करते हैं तभी एकवाक्यता होती है (उन शब्दों को एक ही वाक्य के रूप में
देखा जाता है) । (उक्त रूप में तो दो परस्पर भिन्न वाक्य हैं, क्योंकि दोनों में एक दूसरे के
विपरीत अर्थ हैं ।) अतएव यहाँ सूत्र में एकवाक्यता न रहकर वाक्य-भेद हो जायेगा—
भिद्येत हि तथा वाक्यम् ।]

किन्त्वधीते वेदे द्वयमापतति—गुरुकुलाच्च समावर्तितव्यं, वेदवाक्यानि च
विचारयितव्यानि । तत्र 'गुरुकुलात्मा समावर्तिष्ट' कथं नु वेदवाक्यानि विचारये-
दित्यर्थोऽयमुपदेशः ।

इसके अतिरिक्त वेद का अध्ययन होने के बाद दो कार्य विधानतः उत्पन्न होते हैं—
[स्नातक होने के बाद] गुरुकुल से समावर्तन करना (लौटना) चाहिए तथा वेद के
वाक्यों का विचार करना चाहिए (= गुरुकुल में रहकर) । इस सूत्र में इसी अभिप्राय
से उपदेश किया गया है कि गुरुकुल से समावर्तन नहीं करे, क्योंकि यदि समावर्तन कर
लेगा तो वेद के वाक्यों का विचार कैसे कर सकेगा ?

विशेष—वेदाध्ययन के अनन्तर छात्र के समक्ष दो मार्ग होते हैं—गुरुकुलवास-निवृत्ति (गृहस्थाश्रम में प्रवेशार्थ) तथा वेदवाक्यविचार । इन दोनों के बीच वेदवाक्य-विचार-पक्ष में 'अथ' शब्द के अर्थ (आनन्तर्य) की सिद्धि हो पाती है । किन्तु इस अर्थ में आपत्ति हो सकती है कि यह कार्य (वेदवाक्य-विचार) अदृष्टार्थक हो जायेगा । अतः वेदवाक्य के विचार के विरोधी गुरुकुलवास के अवसानरूप स्नान की निवृत्ति ही लक्षणा से 'अथ' शब्द का अर्थ होता है—ऐसा उपदेश सूत्रकार को अभिप्रेत है (प्रभा, पृ० ५) । इस निरूपण के विरोध में पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है—

यद्येवं न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते । एवं हि समामनन्ति—'वेदमधीत्य स्नायात्' बौधा० गृ० सू० ६।१) इति । इह च वेदमधीत्य स्नास्यन् धर्मं जिज्ञासमान इममाप्तायमतिक्रामेत् । न च आप्तायो नामातिक्रमितव्यः ।

आक्षेप—यदि इस प्रकार की बात है, तब तो धर्मजिज्ञासा के पूर्व वेदाध्ययन होने का निर्देश (विधान) कहीं भी ज्ञात नहीं होता है । इस प्रकार का विधान लोग करते हैं—वेद का अध्ययन करने के अनन्तर स्नान (ब्रह्मचर्याश्रम या गुरुकुलवास के अवसान का बोधक स्नान) करना चाहिए । उक्त स्थिति में तो वेद का अध्ययन करके स्नान करने का विधान होने पर भी [उसे छोड़कर] यदि कोई धर्म की जिज्ञासा कर रहा हो तो उपर्युक्त विधान (वेद-विधि) का अतिक्रमण ही करेगा । किसी भी स्थिति में वेदविधि का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए । ['वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृति से वेदाध्ययन के अनन्तर स्नान-विधि वाचनिक रूप से प्राप्त है जब कि विचार-विधि न्यायप्राप्त है, अतः स्नान की प्रबलता होगी तथा दुर्बल होने के कारण विचार-विधि बाधित हो जायेगी ।]

तदुच्यते—अतिक्रमिष्याम इममाप्तायमनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकं कल्पयेम । दृष्टो हि तस्यार्थः कर्माविबोधनं नाम । न च तस्याध्ययनमात्रात्तत्र-भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति । यदपि च समामनन्तीव, तत्रापि 'ब्रह्म-संस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' (मीमांसासूत्र ४।३।१) इत्यर्थ-वादतां वक्ष्यति ।

इसका उत्तर हम इस प्रकार दे सकते हैं—हम निश्चित रूप से वेद-विधि का अतिक्रमण कर रहे हैं, क्योंकि यदि अतिक्रमण नहीं करें तो वेद को, सार्थक होने पर भी, नितान्त निरर्थक सिद्ध कर देंगे । (वेदाध्ययन के बाद वेदवाक्य-विचार न करने से वेद का कोई फल या प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, वह निरर्थक हो जाएगा । किन्तु वेद-विचार करने के लिए पूर्वोक्त विधि का उल्लंघन करना पड़ता है । भाष्यकार का कथन है कि वेदवाङ्मय को सार्थक सिद्ध करने के लिए यदि उस विधि का अतिक्रमण ही करना पड़े तो कोई बड़ी हानि नहीं है ।)

वेद की सार्थकता है कर्म (हमारे कर्तव्य) का हमें बोध करा देना । यज्ञशास्त्र के विद्वानों ने वेदों के अध्ययन मात्र से किसी फल के प्राप्त होने का निर्देश नहीं किया है [अपितु विधियों के अनुष्ठान या कर्मसम्पादन से ही फल प्राप्त होना बतलाते हैं] ।

यद्यपि कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि वे अध्ययनमात्र से फल-प्राप्ति बतला रहे हैं [यथा—यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्पृष्टं भवति (तै० आ० २।१५)] तथापि ऐसे

सन्दर्भ वास्तव में अर्थवाद (विधि या निषेध का समर्थन करनेवाली अतिशयोक्ति के रूप) में हैं जिनका निर्देश सूत्रकार स्वयं करेंगे—द्रव्य (‘यस्य पर्णमयः जुहुर्भवति’ इत्यादि वाक्यों में विहित पर्णता आदि के रूप में), संस्कार (‘यदाङ्क्ते’ इत्यादि उद्योतिष्टोम-प्रकरण में पठित वाक्य से विहित अजनादि संस्कार) तथा कर्म (प्रयाजादि) के संदर्भों में जो फल का श्रवण होता है [यथा—न स पापं दलोकं शृणोति (द्रव्य), चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृद्धे (संस्कार), वर्म वा एतच्चक्षुस्य क्रियते (कर्म)] वह अर्थवाद है, क्योंकि द्रव्यादि किसी दूसरे प्रयोजन (यज्ञानुष्ठान-रूप प्रयोजन) के साधक हैं। (मी० सू० ४।३।१)

विशेष—‘द्रव्यसंस्कारकर्मसु’ का अनुवाद करते हुए डा० गंगानाथ झा ने इसमें पद्यी समास का ग्रहण किया है—द्रव्यों को संस्कार देनेवाले कर्मों के विषय में। किन्तु प्रभा व्याख्या में इन पदों को द्वन्द्व-समास के अवयव रूप में लेकर पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं जो ऊपर की व्याख्या में हैं। मीमांसा-दर्शन की परम्परा-प्राप्त व्याख्या यही है।

न चाधीतवेदस्य स्नानानन्तर्यमेतद्विधीयते। न ह्यत्रानन्तर्यस्य क्त्वा कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते, नाऽऽनन्तर्ये। दृष्टार्थता वाध्ययन-स्याऽऽनन्तर्ये व्याह्र्यते। लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्, न वा इदं स्नानमदृष्टार्थं विधीयते। किन्तु लक्षणयाऽस्नानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः। ‘वेदमधीत्य स्नायात्’ ‘गुरुकुलान्मा समावर्तिष्ट’—इत्यदृष्टतापरिहारायैव।

[भाष्यकार कहते हैं कि वास्तव में यहाँ कोई विरोध ही नहीं है—] उक्त विधिवक्त्र्य (वेदमधीत्य स्नायात्) यह विधान नहीं करता कि वेद का अध्ययन समाप्त कर चुके व्यक्ति को अविलम्ब [समाप्ति-सूचक] स्नान कर लेना चाहिए। वस्तुतः आनन्तर्य (=तुरत बाद) का अभिधान करनेवाला कोई भी शब्द इस विधिवक्त्र्य में नहीं है। [यदि आप पूछें कि ‘अधीत्य’ शब्द में जो ल्यप् प्रत्यय—क्त्वा के स्थान में आनेवाला—लगा है वह क्या अभिहित करता है? तो हम इसका उत्तर देंगे कि] क्त्वा-प्रत्यय का विधान तो शब्दसृष्टि (व्याकरण) के अनुसार केवल पूर्वकाल का बोध कराने के लिए है (=अमुक क्रिया पूर्वकाल में संपन्न हुई), न कि आनन्तर्य का बोध कराने के लिए। [‘समानकर्तृ-कयोः पूर्वकाले’ पा० सू० ३।४।२१ से क्त्वा-प्रत्यय पूर्वकालमात्र में विहित है।]

अथवा यदि आनन्तर्य अर्थ को स्वीकार किया जाये, तो अध्ययन दृष्टार्थ (साक्षात्-प्रयोजन का साधक) नहीं रह पायेगा। [यदि ब्रह्मचारी ‘वेदमधीत्य स्नायात्’ विधि में आनन्तर्य अर्थ मानकर वेदाध्ययन—वेदों के अक्षरों को ग्रहण—करने के बाद तुरत समाप्तिस्नान करके घर लौट जाये तो वेद उसके लिए अदृष्टार्थ (पुण्यजनक) मात्र रह जायेगा। वेदाध्ययन के बाद वेदवाक्यविचार या अर्थग्रहण हो उसका दृष्टार्थ या प्रत्यक्ष फल है। इससे वह ब्रह्मचारी वंचित रह जायेगा।]

किन्तु लक्षणा से यह अर्थ हो सकता है। वास्तव में अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिए इस स्नान का विधान नहीं किया जाता है; अपितु लक्षणा (परोक्षवृत्ति) के द्वारा केवल यही सूचित होता है कि [ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन के बाद] अस्नान आदि के नियम (जो गुरुकुल में निवास के समय पालनीय थे) समाप्त हो गये। यह समाप्ति वेदाध्ययन की समाप्ति के साथ-साथ ही हो गयी। [स्नान का अर्थ है जलाशय में

आप्लवन । इसकी गणना धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी के वर्जित कर्मों के अन्तर्गत है । वेदाध्ययन के समाप्त होते ही यह नियम समाप्त हो गया कि ब्रह्मचारी को आप्लवन नहीं करना चाहिए । अस्नान तथा अन्य कई नियम जो गुरुकुलवास के लक्षण हैं उनको अवधि वेदाध्ययन है—यही इस लक्षणा के द्वारा ज्ञात होता है] ।

इस प्रकार 'वेद का अध्ययन करके स्नान करे' किन्तु गुरुकुल से घर न लौटे — इस विधि का उक्त अर्थ इसलिए किया जाता है कि स्नान की अदृष्टतार्थता का परिहार करने के लिए याज्ञिक लोग उत्सुक हैं ।

विशेष—प्रस्तुत संदर्भ में 'वेदमधीत्य स्नायात्' विधि के साथ 'अथ' शब्द के 'वेदाध्ययन के अनन्तर' अर्थ की संगति स्थापित की गयी है । वेदाध्ययन के बाद समाप्ति-स्नान करे कि धर्मजिज्ञासा (वेदवाक्यविचार) करे—यह विरोध है । संगति यह है कि धर्मजिज्ञासा करे, गुरुकुल में ही रहे । तब स्नानविधि की व्यवस्था यह होगी कि अस्नान, मधुमांसवर्जनादि नियमों का पर्यवसान हो जायेगा और धर्मजिज्ञासा चलती रहेगी । तभी तो वेदाध्ययन का दृष्ट फल मिलेगा । स्नान से उपलक्षित गुरुकुलवासनिवृत्ति में बाधा होगी । घर लौटना नहीं है, अपितु गुरुकुल में ही रहकर ब्रह्मचारी के नियमों की समाप्ति करके धर्मजिज्ञासा करें । कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में इसे स्पष्ट किया है—

स्नानोपलक्षिता चात्र निवृत्तिर्गुस्वेदमनः ।

विरोधित्वेन बाध्येत न तु मध्वादिभक्षणम् ॥

तस्माद् गुरुकुले तिष्ठन्मधुमांसवर्जयन् ।

जिज्ञासेताविरुद्धत्वाद् धर्ममित्यवगम्यते ॥

(श्लो० बा० १।१।१००-१)

इसके बाद भाष्यकार 'अथ' शब्द के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

तस्माद् वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यथशब्दस्य सामर्थ्यम् । न च ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति । किन्तु वेदमधीत्य त्वरितेन न स्नातव्यमनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यथशब्दस्यार्थः ।

उपर्युक्त कारणों से 'अथ' शब्द का पूर्ण अर्थ (सामर्थ्यशक्ति) इस प्रकार होगा—सर्वप्रथम वेद का अध्ययन ही पूर्णतः सम्पन्न करके बाद में धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए । ['एव' शब्द से यह प्रतीत होता है कि केवल वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासा का पूर्ववर्ती होगा, न कि गुरुकुलवास की निवृत्ति भी ।] हम यह नहीं कहते कि अन्य कर्मों के अनन्तर धर्मजिज्ञासा नहीं करनी चाहिए । किन्तु अथ शब्द का यह अर्थ है कि वेद का अध्ययन (अक्षरग्रहण) करके स्नान करने की शीघ्रता न करें (घर लौटने को तत्पर न हों), अपितु अविलम्ब धर्म की जिज्ञासा करें ।

('अतः' शब्द का अर्थ)

अतः शब्दो वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थः । यथा क्षेमसुभिक्षोऽयमतोऽहमस्मिन्देक्षे प्रतिवसामीति । एवमधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः । अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यतःशब्दस्य सामर्थ्यम् । धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमन्तधीतवेदो न शक्नुयात् । अत एतस्मात्कारणादनन्तरं धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतःशब्दस्यार्थः ।

अतः (= इसलिए) शब्द किसी विगत कार्य का निर्देशक होने के साथ हेतु के अर्थ में होता है; जैसे—यह देश भोजन की सुविधा से भरा है, अतः यहाँ मैं निवास करता हूँ। इसी प्रकार वेद का अध्ययन हो चुका है, यह तथ्य धर्मजिज्ञासा के विषय में हेतु के रूप में ज्ञात है। इसके बाद धर्म की जिज्ञासा करना चाहिए—यही 'अतः' शब्द का पूरा अर्थ है (= क्योंकि वेदाध्ययन हो चुका इसलिए धर्म की जिज्ञासा करें)।

इसका कारण यह है कि धर्म के [ज्ञान के] लिए वेद के वाक्यों का विचार वह व्यक्ति नहीं कर सकता जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया है। अतः = इसी कारण से, इसके बाद धर्म की जिज्ञासा करने की इच्छा करें—यही 'अतः' शब्द का अर्थ है।

(धर्मजिज्ञासा का अर्थ)

धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा। सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा। स कथं जिज्ञासितव्यः। को धर्मः, कथं लक्षणः, कान्यस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किं परश्चेति। तत्र को धर्मः कथं लक्षण इत्येकेनैव सूत्रेण व्याख्यातम्—'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः (मी० सू० १।१।२) इति। कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किं परश्चेति शेषलक्षणेन व्याख्यातम्। क्व पुरुषपरत्वं क्व पुरुषो गुणभूत इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत्सूत्रम् 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति।

'धर्मजिज्ञासा' इस समस्तपद का विग्रह है धर्म के लिए जिज्ञासा (चतुर्थी तत्पुरुष समास)। [चतुर्थी-समास का यद्यपि यहाँ स्थान नहीं है क्योंकि प्रकृति-विकृति भाव यहाँ नहीं—तथापि तादर्थ्य के रूप में पृष्ठी-विभक्ति के अर्थविशेष की सूचना देना यहाँ अभिप्रेत है। भाष्यकार स्वयं कहते हैं—सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा। (प्रभा)] 'जिज्ञासा' का अर्थ है—उस धर्म के ज्ञान की इच्छा।

अब प्रश्न यह है कि उस धर्म की जिज्ञासा कैसे करें? इस सन्दर्भ में जिन प्रश्नों का उत्तर देना है वे हैं—(१) धर्म क्या है? (२) धर्म का लक्षण क्या है? (३) धर्म को प्राप्त करने के उचित साधन (प्रमाण) कौन-कौन से हैं? (४) धर्म के अनुचित साधन (पूर्व-पक्ष को अभिमत) कौन-कौन से हैं? (५) धर्म का अन्तिम लक्षण क्या है?

इन प्रश्नों में प्रथम दो धर्म के स्वरूप तथा लक्षण से सम्बद्ध हैं, उनकी व्याख्या इस एक ही सूत्र में हुई है—क्रियाप्रवर्तक वेद-वाक्यों (चोदना) के द्वारा लक्षित विषय को धर्म कहते हैं (मी० सू० १।१।२)। इस सूत्र में धर्म की संक्षिप्त सूचना दी गयी है, विस्तार से इसका प्रतिपादन प्रथम-द्वितीय अध्यायों में हुआ है।]

धर्मप्राप्ति के उचित साधन, अनुचित साधन तथा उसके प्रयोजन का निरूपण शेष अध्यायों के द्वारा किया गया है। इनमें अन्तिम प्रश्न का अर्थ है—धर्म कहाँ पर पुरुषार्थ का साधक है तथा किन स्थानों पर पुरुष ही धर्म का गौण (अप्रधान) तत्त्व रह जाता है? इन सभी प्रतिज्ञाओं (प्रतिपाद्य विषयों) का पिण्ड-रूप यह सूत्र है—'अथातो धर्म-जिज्ञासा।'

धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा? स चेत्यसिद्धो न जिज्ञासितव्यः। अथा-प्रसिद्धो नतराम्। तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम्।

१. कुत्र धर्मस्य फलार्थत्वं कुत्र वा तदभाव इत्यर्थः (प्रभा)।

अथवाऽर्थवत् । धर्मं प्रति हि विप्रतिपत्ता बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम् । सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कञ्चिदेवोपादवानो विहन्ते, अनर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्य इति ॥ १ ॥

[अब पूर्वपक्षी आशंका करता है कि] धर्म या तो प्रसिद्ध (पूर्वसिद्ध) वस्तु है या अप्रसिद्ध । यदि वह प्रसिद्ध वस्तु है तब तो [निश्चित होने के कारण] उसकी जिज्ञासा करने का प्रश्न ही नहीं उठता । दूसरी ओर, यदि वह अप्रसिद्ध है तब तो [ज्ञान तथा इच्छा दोनों के संभव न होने के कारण] और भी अधिक विषम स्थिति है कि जिज्ञासा नहीं की जाय । अतएव धर्मजिज्ञासा से संबद्ध यह पूरा प्रकरण (शास्त्र) ही व्यर्थ है ।

इसका उत्तर सिद्धान्तवादी की ओर से इस प्रकार दिया जाता है—यह शास्त्र निरर्थक नहीं, प्रत्युत सार्थक ही है । इसका कारण यह है कि बड़े-बड़े विद्वानों ने धर्म के विषय में विविध प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं । कुछ लोग किसी एक वस्तु को धर्म कहते हैं, कुछ लोग किसी दूसरी वस्तु को । ऐसी स्थिति में विचार-विमर्श किये बिना प्रवृत्त होने-वाला व्यक्ति किसी एक पक्ष का ही ग्रहण करके अपने को नष्ट कर सकता है । साथ ही वह अनर्थ या अनिष्ट फल प्राप्त कर सकता है ।

इसलिए यह उचित ठहरा कि धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए ।

विशेष—भाष्यकार शबरस्वामी को भाषा का प्रायः अविकल ग्रहण ब्रह्मसूत्र (१.१.१२) के भाष्य में शंकराचार्य ने किया है—तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम् । अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः ।
.....तत्राविचार्य यकिञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् ।

इसी प्रकार 'अथ' शब्द के आनन्तर्य अर्थ के विषय में भी दोनों भाष्यकारों की प्रतिपादन-शैली तुलनीय है । यह भी सत्य है कि शबर की अपेक्षा शंकराचार्य की शैली अधिक स्वच्छ, प्रसन्न तथा प्रांजल है ।

अधिकरण—२ (धर्म का लक्षण)

स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे । तदभिधीयते—

वह (धर्म) पुरुष को निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण के साथ संयुक्त कर देता है—
हम ऐसा मानते हैं । तो, अगले सूत्र में उस धर्म का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्यों के द्वारा लक्षित पुण्यजनक विषय को धर्म कहते हैं ॥ २ ॥

चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः । आचार्यचोदितः करोमीति हि वक्ष्यते । लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् । धूमो लक्षणमग्नेरिति हि वदन्ति । तथा यो लक्ष्यते सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे ।

१. तुलनीय—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशे० सू० १.१.१२) ।

चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीय-
कमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत्किञ्च, नेन्द्रियम् ।

क्रिया के प्रवर्तक (व्यक्ति को कार्य में प्रवृत्त करनेवाले) वेदवाक्य को मीमांसक लोग 'चोदना' कहते हैं । इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग देखा जाता है—मैं आचार्य के द्वारा प्रवर्तित (चोदित) होकर यह काम कर रहा हूँ । 'लक्षण' उसे कहते हैं जिसके द्वारा कोई पदार्थ लक्षित या निर्दिष्ट होता हो; जैसे लोग कहते हैं कि धूम अग्नि का लक्षण है । [धूम निर्दिष्ट करता है कि उस स्थल पर अग्नि वर्तमान है । इसी प्रकार जहाँ क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्य देखें उससे समझ लें कि उसके अनुष्ठान से धर्म होगा ।]

उस चोदना या क्रियाप्रवर्तक वेदवाक्य के द्वारा जिसे निर्दिष्ट किया जाता है वह पदार्थ [अनुष्ठान करनेवाले] पुरुष को परम कल्याण (निःश्रेयस) से संयुक्त करता है—
ऐसा हम मानते हैं । [निःश्रेयस से व्यक्ति को जोड़नेवाला पदार्थ ही धर्म है ।]

[उक्त क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्य में अपरिमित शक्ति है, इसका निर्देश करते हुए भाष्य-
कार परम श्रद्धा से युक्त वचन कहते हैं—] क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्य (चोदना) अतीत,
वर्तमान तथा भविष्यत् को; सूक्ष्म, किसी व्यवधान से युक्त (छिपे हुए) तथा दूरवर्ती—इस
प्रकार के विविध पदार्थों का ज्ञान करा सकता है । दूसरे किसी भी प्रमाण में ऐसे पदार्थों के
बोध की शक्ति नहीं, इन्द्रिय [तथा उस पर आश्रित अनुमान प्रमाण] की गति भी वहाँ
तक नहीं है ।

विशेष—'चोदना' को मीमांसक धर्म का लक्षण अर्थात् निर्देशक (ज्ञानजनक) मानते
हैं । इसका अर्थ क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्य है । मुख्यतः विधिवाक्यों को ही चोदना कहते
हैं, जैसे—यजेत स्वर्गकामः । प्रवृत्ति का बोध यहाँ लिङ्लकार के 'त' प्रत्यय से हो रहा है ।
इस प्रवृत्ति अथवा क्रिया को मीमांसक लोग 'भावना' भी कहते हैं जिसमें तीन अंश होते
हैं—साध्य (किम्), साधन (केन) तथा इतिकर्तव्यता (कथम्) । इन तीनों अंशों से
पूर्ण होकर लिङादि प्रत्यय विधि (पुरुष को प्रवृत्त करने) में समर्थ होते हैं । इसकी पूर्ति
तो वाक्य द्वारा ही होती है, इसलिये विधिवाक्य या क्रियाप्रवर्तक वाक्य को ही चोदना
कहते हैं । इसी आशय का श्लोक कुमारिल ने दिया है—

किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ ।

तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽभिस्त्वचोदनोच्यते ॥ (श्लो० वा० १।१।२।३)

इस वाक्य में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी अपरिमेय अर्थों के बोध की शक्ति है । तभी
तो प्राचीन टीकाकार लोग वेद का निर्वचन करनेवाले इस श्लोक का उद्धरण बहुधा
देते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

वेद शब्द-राशि के रूप में है । शब्द स्वयं ही प्रचुर शक्तिमान है । कुमारिल कहते
हैं कि जिन पदार्थों की सत्ता कभी भी नहीं हो सकती (जैसे—शशविपाणादि) ऐसे अर्थों के
प्रति भी शब्द की गति अव्याहत है, इसका ज्ञान भी वह करा सकता है—

अत्यन्तास्त्यपि ज्ञानमर्थं शब्दः करोति हि । (श्लो० वा० २।६)

भाष्य के 'नान्यत्किञ्च, नेन्द्रियम्' इस वाक्य का पदच्छेद तथा अर्थ तीन प्रकार से हो सकता है—(१) नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्—किसी भी इन्द्रिय के द्वारा यह ज्ञान सुलभ नहीं (गंगानाथ ज्ञा)। इस अर्थ में 'अन्यत्' की संगति बैठाना कठिन है। यदि इसे 'इन्द्रियम्' का विशेषण मानेंगे तो उसका पूर्वनिर्देश आवश्यक है। (२) नान्यत् किञ्च, नेन्द्रियम्—दूसरा कोई समर्थ नहीं है क्योंकि इन्द्रिय की शक्ति ऐसा करने की नहीं, उसपर आश्रित अनुमान भी असमर्थ ही होगा (प्रभा)। (३) नान्यत् किञ्च (कुतः?), नेन्द्रियम्—दूसरा साधन समर्थ नहीं है, क्यों? इन्द्रिय समर्थ नहीं [इसलिए उसपर आश्रित अनुमान भी असमर्थ होगा]।

(वेदप्रामाण्य पर शंका-समाधान)

नन्वतथाभूतमप्यथं ब्रूयाच्चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनं—नद्यास्तीरे फलानि ऋन्तीति। तत्तद्व्यमपि भवति वितथमपि भवतीति।

उच्यते। विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते—ब्रवीति वितथं चेति। ब्रवीतीत्युच्यतेऽवबोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीति। यस्मिन्नेव निमित्तभूते सत्यबबुध्यते सोऽवबोधयति।

पूर्वपक्षी आशंका करता है कि क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्य असत्यभूत अर्थ का भी तो निरूपण कर सकता है! जैसे कोई लौकिक वाक्य [असत्य वस्तु का प्रतिपादन करता है] यथा—नदी के तीर पर फल हैं। यह वचन सत्य भी हो सकता है, असत्य (तथ्य के प्रतिकूल) भी हो सकता है। [इसलिए वेद भी सत्य के समान ही असत्य का भी प्रतिपादन कर सकता है। अतः वेद से परम कल्याण को प्राप्ति की बात संदिग्ध लगती है। वेद शब्द के रूप में है। ये शब्द सत्य-असत्य दोनों ही रूपों में हो सकते हैं। अनपेक्ष वेदोक्त विषयों के सत्यासत्य का निश्चय नहीं है। पूर्वपक्षी यह सिद्ध करता है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका लक्षण या प्रमाण वेद को माना जा सके।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। आपकी ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं—(१) वेद प्रतिपादन करता है (ब्रवीति) तथा (२) असत्य वस्तु का प्रतिपादन करता है (वितथं च)।

जब हम कहते हैं 'ब्रवीति' (प्रतिपादन करता है) तो इसका वाच्यार्थ होता है—बोध कराता है (अवबोधयति) अर्थात् किसी ज्ञातव्य विषय के ज्ञात होने का निमित्त बनता है। जिस (वेद) के निमित्त रहने की स्थिति में पुरुष को विषय का ज्ञान होता है वही तो बोध कराता है। [इस प्रकार 'वेद प्रतिपादन करता है = बोध कराता है।' पुनः, बोध = विषय का ज्ञान, सही ज्ञान।]

यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति गम्यते, कथमुच्यते न तथा भवतीति? अथ न तथा भवतीति कथमवबुध्यते? असन्तमर्थमवबुध्यत इति विप्रतिषिद्धम्।

न च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यतो वचनात्सन्दिग्धमवगम्यते—भवति वा स्वर्गो न वा भवतीति। न च निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्। यो हि जनिन्वा

प्रध्वंसते नैतदेवमिति स मिथ्याप्रत्ययः । न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति । तस्मादवितथः ।

इस स्थिति में वेद के उपस्थित रहने पर (वेदवाक्य से) यदि यह ज्ञान हो कि अग्निहोत्र से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो आप कैसे कह सकते हैं कि यह बात असत्य है, ऐसा नहीं होता ? और यदि [आप कहें ही कि] ऐसा नहीं होता है तो आपको यह कहने का साहस कैसे होता है कि उसका ज्ञान हो रहा है ? यह कहना कि अमुक वस्तु की सत्ता नहीं है (असत्य वस्तु है) और पुनः उसके ज्ञात होने की बात करना परस्पर विरोधी कथन है (क्योंकि ज्ञान का विषय सत्य पदार्थ ही होता है) ।

‘स्वर्ग’ की कामना रखनेवाले व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए’ इस विधिवाक्य से सन्दिग्ध पदार्थ का बोध नहीं होता कि स्वर्ग होता है कि नहीं । जब निश्चित (असन्दिग्ध) पदार्थ का बोध हो रहा है तब यह विधिवाक्य मिथ्या नहीं हो सकती है (अर्थात् स्वर्ग के विद्यमान होने की बात निश्चित है । जो (ज्ञान) एक बार उत्पन्न होने के बाद, पुनः ‘ऐसा यह नहीं है’ इस दूसरे ज्ञान से नष्ट हो जाये वही मिथ्या ज्ञान कहलाता है [जैसे रज्जु में सर्पज्ञान एक बार उत्पन्न तो होता है किन्तु बाद में ‘यह रस्सी है, सर्प नहीं’ इस औत्तरकालिक ज्ञान से वाधित हो जाता है—यह मिथ्या ज्ञान है ।]

[स्वर्गविषयक] यह ज्ञान दूसरे काल में, किसी दूसरे पुरुष के विषय में, किसी दूसरी अवस्था में या किसी भिन्न देश में विपरीत होता है, बदल जाता है—ऐसी बात नहीं दिखलाई पड़ती । अतएव यह ज्ञान (जो विधिवाक्य से निष्पन्न होता है) अप्रामाणिक नहीं है ।

यत्तु लौकिकं वचनं, तच्चेत्प्रत्ययितात्पुरुषादिन्द्रियविषयं वाऽवितथमेव तत् ।
अथाप्रत्ययितादनिन्द्रियविषयं वा तावत्पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम् । अशक्यं हि तत्पुरुषेण ज्ञातुम्ते वचनात् ।

[अब भाष्यकार पूर्वपक्षी के उस तर्क का खण्डन करने जा रहे हैं जो उसने लौकिक वाक्यों के विषय में प्रस्तुत किया था कि वेदवाक्य लौकिक वाक्य के समकक्ष हैं—] जहाँ तक लौकिक वचन का प्रश्न है हम कहेंगे कि यदि वह वचन किसी प्रत्ययित (विश्वसनीय) पुरुष से आया हो या इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् गृहीत होने योग्य हो तो ऐसे वचन को प्रामाणिक (सत्य, अवितथ) ही मानेंगे । दूसरी ओर, यदि वह वचन किसी अविश्वसनीय पुरुष से आया हो या इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् ग्राह्य न हो तो वह चूँकि पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न है, इसलिए प्रमाण नहीं है । कारण यह है कि ऐसे (इन्द्रियों से अग्राह्य) विषयों का ज्ञान किसी पुरुष को शब्द (वचन) के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन से नहीं होगा [और शब्द चूँकि अविश्वसनीय व्यक्ति से आया है—अतः स्वयम् अविश्वसनीय है] ।

विशेष—सारांश यह हुआ कि इन्द्रियों से जिन विषयों का ग्रहण नहीं हो पाता उनके ज्ञान के लिए हमें शब्द-प्रमाण पर ही निर्भर रहना पड़ता है; किन्तु शब्द किसी विश्वसनीय पुरुष का ही होना चाहिए । धर्म का ग्रहण भी इन्द्रियों से नहीं हो सकता । इस-

१. तथाभूतमतथाभूतं वा यथा दृष्टार्थं यो वदति स प्रत्यायितः (प्रभा) ।

२. इन्द्रियपदं मूलभूतप्रमाणसामान्योपलक्षणम् (प्रभा) ।

लिपि इसके ज्ञान के लिए भी शब्द का आश्रय आवश्यक है। यदि पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न शब्द पर आश्रित रहेंगे तो कुछ न कुछ दोष रहेगा ही—पुरुष पूर्णतः विश्वसनीय (प्रमाण) नहीं हो सकता। इन्द्रियातीत विषयों के ग्रहण की क्षमता उसमें निहित ही नहीं है। अतएव धर्म-ज्ञान के लिए एकमात्र अपौरुषेय वेद-वाक्य पर निर्भर करना होगा।

अपरस्मात्पौरुषेयाद् वचनात्तदवगतमिति चेत्, तदपि तेनैव तुल्यम्। नैव-जातीयकेष्वर्थेषु पुरुषवचनं प्रामाण्यमुपैति जात्यन्धानामिव वचनं रूपविशेषेषु।

यदि कोई पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि किसी दूसरे पुरुष के वाक्य के आधार पर वर्तमान पुरुष ने यह वाक्य कहा है [इसलिए प्रामाणिक है], तो हम कहेंगे कि वह पूर्वोक्त पुरुष भी तो [अपनी अक्षमता के कारण] वैसा ही है। [चाहे कितने ही पुराने प्रामाणिक पुरुष क्यों न हों, वे इन्द्रियग्राह्य विषयों के लिए ही प्रमाणकोटि में आ सकते हैं, धर्म-सदृश विषयों के लिए उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। अतः एक पुरुष से दूसरे पुरुष तक जाने-वाला वचन भी कोई विशेष स्थान नहीं रखता, यदि इस वचन का आरम्भ किसी पुरुष की ही बुद्धि से हुआ है।]

इस प्रकार के विषयों में (अतीन्द्रिय विषयों में जैसे धर्मादि) किसी पुरुष का वचन प्रमाणकोटि में नहीं आता है जिस प्रकार जन्म से ही अन्धे पुरुषों का वाक्य किसी रूप-विशेष के वर्णन में सत्य (प्रामाणिक) नहीं हो सकता। [यदि जन्मान्ध व्यक्ति कहे कि] शंख का वर्ण श्वेत है तो यह अप्रामाणिक होगा क्योंकि अन्धे ने स्वयं शंख के वर्ण का प्रत्यक्ष नहीं किया है, किसी दूसरे व्यक्ति के वाक्य के आधार पर ही वह कह रहा है। इसी प्रकार धर्मादि अतीन्द्रिय विषयों के प्रमाण के रूप में पुरुष को नहीं रखा जा सकता; पुरुष का धर्म से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

नन्वविदुषामुपदेशो नावकल्पते। उपदिष्टवन्तश्च मन्वादयः। तस्मात्पुरुषाः सन्तो विदितवन्तश्च, यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यत इति दर्शनादेवावगतम्।

आक्षेप—[लौकिक या पौरुषेय वाक्यों की प्रामाणिकता के समर्थन में पूर्वपक्षी कहता है—] जो पुरुष जिस विषय को जानता नहीं वह उस विषय का उपदेश देगा—ऐसी बात कल्पनीय नहीं है (= असंभव है)। किन्तु हम देखते हैं कि मनु आदि महर्षियों ने [धर्म का] उपदेश दिया है। इससे सिद्ध होता है कि मनु आदि महर्षि पुरुष होते हुए भी धर्म का ज्ञान रखते थे जिस प्रकार दर्शन से ही सिद्ध हो जाता है कि चक्षु के द्वारा मनुष्य को रूप का ग्रहण होता है। [अतएव पुरुष को भी धर्म का ज्ञान होता है, वह भी धर्म के विषय में प्रमाण बन सकता है।]

उच्यते—उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति। असति व्यामोहे वेदादपि भवन्ति। अपि च पौरुषेयाद्वचनादेवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययो नैवमयमर्थ इति। विप्लवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृताद्वचनात्प्रत्ययः। न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति।

इस आक्षेप का उत्तर हम इस प्रकार देंगे—जहाँ तक उपदेशों के दिये जाने की बात है, वे तो व्यामोह (मिथ्याज्ञान) से भी उत्पन्न हो सकते हैं । [अतएव पुरुषों के द्वारा उपदेश दिये जाने का यह अर्थ नहीं कि ये पुरुष धर्म का सही ज्ञान रखते थे । अनेक लोग तो स्वयं भ्रम में रहकर भी उपदेश देते दिखलाई पड़ते हैं जिनके लिए कठोपनिषद् में कहा गया है—अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।]

ऐसे उपदेश (धर्म-विषयक), मिथ्या-ज्ञान के अभाव में, वेदवाक्य से भी प्राप्त होते हैं । [वेद में पुरुष-सम्बन्ध न होने के कारण भ्रम, अशुद्धि, अज्ञान इत्यादि मानवीय], दुर्गुणों का अवकाश बिल्कुल नहीं है । अतएव वेद में ही धर्म के उपदेश की क्षमता है ।

इसके अतिरिक्त पुरुष के वचन से यही प्रतीति हो सकती है कि यह पुरुष पदार्थ को इस रूप में जानता है (एवमयं पुरुषो वेद), यह प्रतीति नहीं होती कि यह पदार्थ ऐसा है (एवमयमर्थः) । इसका कारण यह तथ्य है कि पुरुष के कहे हुए वचन से होनेवाली प्रतीति कभी-कभी अवश्य सत्य का उल्लंघन करती है । दूसरी ओर, वेद के वचन को मिथ्या करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है । [वेदवाक्य में किसी पुरुषवक्ता की सत्ता नहीं है, इसलिए वक्ता के ज्ञान के अनुवर्ती होने का वहाँ प्रश्न ही नहीं ।]

ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्प्रदायिदमपि वितथ-मवगम्यते । न, अन्यत्वात् । न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति । अन्यत्वादेव । न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति ।

अपि च पुरुषवचनसाधर्म्याद् वेदवचनं वितथमित्यनुमानं व्यपदेशादवगम्यते । प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः । न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रमाणं भवति । तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः ।

यहाँ इस प्रकार की शंका हो सकती है—सामान्य के आधार पर यहाँ अनुमान होगा कि पुरुष का वचन असत्य पाकर, वचन के साम्य के कारण यह वेद-वाक्य भी असत्य होगा (वेदवचनमप्रमाणं, वचनत्वात्) ।

इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, ये दोनों (पुरुषवचन तथा वेदवचन) परस्पर भिन्न हैं । एक पदार्थ के असत्य होने से दूसरे पदार्थ की असत्यता नहीं हो जाती, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं । देवदत्त के काला होने का अर्थ यह नहीं कि यज्ञदत्त भी काला होगा । [भाव यह है कि दो पदार्थ एक प्रकृति के हों तभी सादृश्यानुमान होता है । एक पदार्थ दोषयुक्त है उसकी असत्यता से निर्दोष पदार्थ की भी असत्यता का अनुमान नहीं होगा । पुरुषवचन (दुष्ट) तथा वेदवचन (अदुष्ट) का भी ऐसा ही भेद है । पुनः, वचनमात्र हेतु से किसी पदार्थ के सत्यासत्य का अनुमान नहीं हो सकता—वचन होने से कोई सत्य भी हो सकता है, असत्य भी हो सकता है । जैसा कि पुरुषवचन तथा वेदवचन में प्रकृतिगत अन्तर है, इसलिए वचन के सादृश्य के आधार पर तो अनुमान हो ही नहीं सकता । जैसे यज्ञदत्त के श्यामत्व का प्रयोजक देवदत्त का श्यामत्व नहीं है उसी प्रकार पुरुषवचन का वैतथ्य (असत्यता) वेदवचन के वैतथ्य का प्रयोजक हेतु नहीं होगा ।]

दूसरे, आपका (पूर्वपक्षी का) यह अनुमान है—पुरुष-वचन के समान धर्म होने के कारण वेद-वचन असत्य है । किन्तु यह अनुमान तो दूसरे आधार पर (कि पुरुषवचन

अस्त्य है) परोक्षतः प्राप्त होता है। वेदवचन से प्राप्त होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसा नियम है कि प्रत्यक्ष का विरोध करनेवाला अनुमान प्रामाणिक नहीं होता। [पूर्वपक्षी ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है, वह वेदजन्य ज्ञान क्यों न हो। मीमांसक ज्ञान को अनुमेय मानते हैं। इसलिए भाष्यकार पूर्वपक्षी की युक्ति में प्रत्यक्ष-वाधित अनुमान होने का दोष दिखा रहे हैं। पूर्वपक्षी वेदवचन को अप्रमाण दिखाने की प्रतिज्ञा करता है अर्थात् वह ज्ञानाभाव के रूप में उसके अप्रामाण्य की सिद्धि करना चाहता है। दूसरी ओर ज्ञान को वह प्रत्यक्षगम्य मानता है इसलिए उसका वेदवाक्य को अप्रामाणिक सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रत्यक्षविरुद्ध है।]

इन सबों से यह निष्कर्ष निकलता है कि क्रिया-प्रवृत्तक वेदवाक्य (चोदना) से लक्षित होनेवाला पदार्थ (= धर्म) ही परम कल्याणकारी है।

एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः, किं धर्मजिज्ञासया? उच्यते। य एव श्रेयस्करोः, स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम्? यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते। यथा पाचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते।

आक्षेप—यदि ऐसी बात है तब उस परम कल्याणकारी पदार्थ की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। धर्म की जिज्ञासा करने से क्या लाभ है? इसका उत्तर दिया जायगा कि जिस पदार्थ को हम परम कल्याणकारी कह रहे हैं उसी को 'धर्म' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। पूर्वपक्षी पुनः पूछता है कि यह बात कैसे समझी जाये?

हम कहेंगे कि जो व्यक्ति याग का अनुष्ठान करता है उसे लोग धार्मिक (धर्म-कर्ता) कहते हैं। जो व्यक्ति जिस क्रिया को निष्पन्न करता है उसे उसी के आधार पर अभिहित करते हैं, जैसे—पाचक (पाकक्रिया का कर्ता), लावक (लवनक्रिया का कर्ता, काटने-वाला) इत्यादि। इसलिए जो पदार्थ पुरुष को निःश्रेयस (परम कल्याण) से संयुक्त करता है उसे धर्म कहते हैं।

न केवलं लोके, वेदेऽपि—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०।१०।१६ तथा तै० आ० ३।१३) इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति। उभयमिह चोदना लक्ष्यतेऽर्थोऽर्थश्चेति। कोनऽर्थः? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय, इयेनो वज्र इषुरित्येवमादिः। तत्रानर्थो धर्मः सा भूदित्यर्थग्रहणम्।

केवल लौकिक व्यवहार में ही यज्ञ-यागादि को धर्म कहते हों ऐसी बात नहीं, वेद में भी ऐसे सन्दर्भ विद्यमान हैं; यथा—'देवताओं ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ (यजनीय पुरुष) का अर्चन किया, वे (अर्चन) ही संसार के प्रथम धर्म थे' (ऋ० १०।१०।१६ इत्यादि) इस वाक्य में यजति-क्रिया (यज् धातु) वाच्यार्थ को ही धर्म कहा गया है।

१. द्रष्टव्य—श्लोकवा० २।१८७-९ तथा उसकी टीका न्यायरत्नाकर। पुनः प्रभा टीका (पृष्ठ १७) भी द्रष्टव्य है।

[अब भाष्यकार प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थः' शब्द का प्रयोजन बतला रहे हैं—]
उक्त वेदवाक्य से दोनों प्रकार की चीजें लक्षित हैं—अर्थ भी और अनर्थ भी । आप अर्थ से क्या समझते हैं ? जो निःश्रेयस (परमकल्याण) के लिए है, जैसे—ज्योतिष्टोम-याग आदि । तब अनर्थ क्या है ? जो कार्य प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न करते हैं, जैसे—इयेन, वज्र, इषु तथा अन्य निकृष्ट कार्य । तो अनर्थवाले कार्य धर्म नहीं कहलायें इसीलिए सूत्र में 'अर्थ' शब्द का ग्रहण किया गया है (चोदनालक्ष्णोऽर्थो धर्मः) ।

विशेष—इयेन, वज्र, इषु इत्यादि कार्य इसीलिए अनर्थ हैं कि इनसे अभिचार-कर्म (शत्रु की हत्या इत्यादि) की सूचना मिलती है । 'इयेनेनाभिचरन् यजेत' यह एक विधि है जो इयेन-याग से संबद्ध है । इसमें लक्षणावृत्ति के द्वारा शत्रु-परण के अनुकूल शस्त्रघातादि के रूप में हिंसा का बोध होता है । वह हिंसा 'न हित्यात्सर्वा भूतानि' इस निषेधवाक्य से निषिद्ध होने के कारण प्रत्यवाय का साधन होती है इसीलिए अनर्थात्मक फल देती है । वज्र, इषु इत्यादि भी याग ही हैं किन्तु इनसे भी हिंसारूप फल का ही बोध होता है । वेदवाक्य में अर्थ तथा अनर्थ दोनों का वर्णन है, अनर्थ छोड़कर अर्थ को ही धर्म कहते हैं । इसका प्रतिपादन भाष्यकार ने स्वयं किया है ।

कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा । हिंसा च प्रतिषिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते ?

उच्यते । नैव इयेनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते । 'यो हि हिंसितुमिच्छेत्स्यायमभ्युपायः' इति हि तेषामुपदेशः । 'इयेनेनाभिचरन् यजेत' इति हि समाप्तमन्ति, नाभिचरितव्यम् इति ।

प्रश्न है कि उक्त कार्यों को आप अनर्थ कैसे कहते हैं ? बात यह है कि ये कार्य हिंसात्मक हैं । हिंसा प्रतिषिद्ध कार्य है । तब यह बतलायें कि [हिंसारूप] अनर्थ कार्यों का कर्तव्य के रूप में वेदों में क्यों उपदिष्ट किया गया ?

इसका उत्तर यह है—इयेन-याग आदि को कहीं भी कर्तव्य के रूप में विधियों में निरूपित नहीं किया गया है । इन यागों का उपदेश यही है कि जो व्यक्ति [शत्रु आदि की] हिंसा करना चाहे, उसके लिए यह याग (इयेन याग) प्रकृष्ट उपाय है । वेदवाक्यों में तो यही कहा गया है कि अभिचार (हिंसा) करने का इच्छुक इयेन याग से यज्ञ करे (पङ्क्ति ब्रह्मण ८।१-२) । ऐसा तो वहाँ नहीं कहा गया है कि अभिचार-कर्म करना चाहिये । [यदि हिंसा या अभिचार-क्रिया के साथ तव्य या त-प्रत्यय लगाया जाता तो कहा जा सकता था कि वेदवाक्यों में अनर्थ का कर्तव्य के रूप में उपदेश है । इस स्थल में 'इयेनेनाभिचरन् यजेत' विधिवाक्य में अभि+चर्-धातु में शत्रु-प्रत्यय लगा है जिसकी व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है—यो हि हिंसितुमिच्छेत् । शत्रु-प्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस पाणिनि-सूत्र के द्वारा लक्षण के अर्थ में विहित है । लक्षण प्रसिद्ध पदार्थ का ही होता है । अतः यहाँ प्रसिद्ध अभिचार-कर्म को विधेय नहीं बना सकते—विधेय तो अज्ञात को ही बनाया जाता है । इस वाक्य में इयेन विधेय है, अभिचारकर्म नहीं । यह कर्म तो पूर्वसिद्ध है । इयेन अभिचार का उपायभूत है । पुरुष यह कर्म केवल स्वेच्छा से प्रेरित होकर करता है न कि वेद-विधि से ।]

नन्वशक्तमिदं सूत्रमिमावर्थाविभवदितुम् । चोदनालक्षणो धर्मो नेन्द्रियादि-
लक्षणः अर्थश्च धर्मो नानर्थ इति । एकं हीदं वाक्यं तदेवं सति भिद्येत ।

उच्यते । यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते तत्रैवम् । तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु ।
अन्यतोऽवगतेऽर्थे सूत्रमेवमर्थमिदमित्यवगम्यते । तेन चैकदेशः सूत्र्यत इति सूत्रम् ।
तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेकदेशावित्यवगन्तव्यम् । अथवाऽर्थस्य सतश्चोदना-
लक्षणस्य धर्मत्वमुच्यत इत्येकार्थमेवेति ॥ २ ॥

आक्षेप—यह सूत्र इन दो अर्थों का अभिधान करने में असमर्थ है—(१) धर्म वह पदार्थ है जो वेदवाक्यों से लक्षित होता है, इन्द्रियादि (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) द्वारा लक्षित नहीं होता । (२) अर्थ (पुण्यजनक) को धर्म कहते हैं, अनर्थ (पापजनक) को नहीं । सूत्र में तो एक ही वाक्य वर्तमान है, यदि उपर्युक्त रूप में दो-दो अर्थ किये जायेंगे तो वाक्य के दो टुकड़े हो जायेंगे (= दो अर्थों की परिकल्पना करने से, अर्थ के ऐक्य पर आश्रित एकवाक्यता भग्न हो जायेगी) ।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—यह वाक्य-भेद दोष वहीं होता है जहाँ किसी [वैदिक विधि के] वाक्य से [अज्ञात] अर्थ की प्रतीति हो रही हो । इसलिए यह बात वैदिक वाक्यों के ही लिए सत्य है, सूत्रगत वाक्यों के लिए नहीं (सूत्र में वाक्य-भेद का दोष नहीं होता) । किसी दूसरे साधन से ज्ञात होनेवाले अर्थ के विषय में सूत्र केवल यही निर्देश करता है कि उसमें ऐसा अर्थ है । [इस प्रकार सूत्रों में विधिवाक्यों के सदृश अज्ञातार्थज्ञापकता नहीं होती, इनमें ज्ञात या साधनान्तर से प्राप्त अर्थ की ही सूचना होती है] । मीमांसासूत्र तथा ब्रह्मसूत्र के विषय में यह बात सर्वथा सही है । मीमांसासूत्र जहाँ विधिवाक्य के विषयों को सूचित करते हैं वहाँ ब्रह्मसूत्र उपनिषद्वाक्य-कुसुमों का ग्रन्थन करते हैं । व्याकरणादि सूत्रों के विषय में भी यह उक्ति बहुत दूर तक सही है । [इसलिए सूत्र शब्द का निर्वचन भी ऐसा ही होता है कि जिसमें किसी वाक्य के एकदेश (अंश-मात्र) को निर्दिष्ट किया जाय (सूत्र्यते इति सूत्रम्) । इसलिए प्रस्तुत सूत्र में भी दो भिन्न-भिन्न वाक्यों के एकदेश (टुकड़े) निर्दिष्ट किये गये हैं—(क) अर्थो धर्मः, (ख) चोदनालक्षणः—ऐसा समझना चाहिए ।

[अपनी इस व्याख्या से असंतुष्ट होकर^१ भाष्यकार इस सूत्र में एकवाक्यता की उपपत्ति करनेवाला पक्ष भी उपस्थित करते हैं—] अथवा इस सूत्र में एक अर्थ की भी सिद्धि की जा सकती है कि पुण्यजनक होने के साथ-साथ जो वेदवाक्य द्वारा लक्षित हो, उसे धर्म कहते हैं । इस प्रकार इसमें एकवाक्यता रह जाती है तथा वाक्यभेद का प्रश्न नहीं उठता ॥ २ ॥

विशेष—एकवाक्यता दिखाने के लिए भाष्यकार धर्म का लक्षण वेदवाक्य को मानकर अर्थ (पुण्यजनक) को विशेषण बतलाते हैं । 'चोदनालक्षणो धर्मः' यह धर्म का लक्षण तो हुआ किन्तु ऐसा करने पर अनर्थ या पापजनक कर्म की भी अतिव्याप्ति हो जायेगी इसलिए 'अर्थत्वे सति' यह विशेषण लगाना आवश्यक है । अनर्थ को व्यावृत्त करने के लिए यह

अन्य प्रकार भी है—जो धर्म है वह वेदविहित (चोदनालक्षण) है। इस पक्ष में धर्म का अर्थ हुआ पुण्यजनक (अर्थ)। धर्म में अर्थत्व की नित्यसिद्धि होगी इसीलिए धर्ममात्र को उद्देश्य तथा वेदविहित को विधेय रखना पड़ता है। जो भी हो, यह ब्याख्या करने की एक शैली मात्र है।

अधिकरण-३ (धर्म के प्रामाण्य की परीक्षा)

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

उक्तमस्माभिश्चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानमिति । तत्प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम् । इदानीं तस्य निमित्तं परीक्षिष्यामहे—किं चोदनेवेति, अन्यदपीति ? तस्मान्न तावन्निश्चीयते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥ ३ ॥

सुत्रार्थ—उस (धर्म) के निमित्त की परीक्षा [आरंभ-होगी] ।

भाष्य—ऊपर हमने कहा है कि धर्म के ज्ञान का उपाय (निमित्त) वेदवाक्य है । किन्तु वहाँ यह बात केवल प्रतिज्ञा (कथन) के रूप में कही गयी थी । यहाँ उस धर्म के निमित्त की परीक्षा हम करेंगे कि क्या केवल वेद ही धर्म का निमित्त है या कुछ दूसरी चीजें भी उसका निमित्त हैं ? जब तक यह परीक्षा पूरी नहीं हो जाती, यह निश्चय भी नहीं हो पाता है कि वेद से लक्षित पुण्यजनक पदार्थ को धर्म कहते हैं ॥ ३ ॥

अधिकरण-४ (धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता)

तदुच्यते—

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ ४ ॥

वह (परीक्षा) इस प्रकार करते हैं—

इन्द्रियों का अर्थ (विषय, सत्) के साथ संबन्ध होने पर (संप्रयोगे) पुरुष की बुद्धि से जो प्रमाण उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं; यह (प्रत्यक्ष) धर्मज्ञान का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल वर्तमान काल में अवस्थित वस्तुओं का ग्रहण कर सकता है ॥ ३ ॥

विशेष—इस लम्बे सूत्र में जैमिनि ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण देकर धर्मज्ञान में उसकी असमर्थता का भी निरूपण किया है। प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के कारण अनुमान, उपमान तथा अर्थापत्ति जैसे प्रमाणों की भी असमर्थता इसी से सिद्ध हो जाती है। इसीलिए इस सूत्र को 'प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्याधिकरण' कहते हैं।

इदं परीक्ष्यते—प्रत्यक्षं तावदनिमित्तम् । किं कारणम् ? एवं लक्षणकं हि तत्—सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् । सतीन्द्रियार्थसंबन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते तत्प्रत्यक्षम् । भविष्यदर्थेष्वर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति । सतश्चैतदुपलम्भनं नासत् । अतः प्रत्यक्षमनिमित्तम् ।

२ श्री० शा०

इसकी परीक्षा की जाती है—प्रत्यक्ष-प्रमाण तो धर्मज्ञान का निमित्त (साधन) नहीं है। इसका कारण क्या है? वह प्रमाण इस लक्षण से युक्त है—सत्संप्रयोगे० इत्यादि। इसका अर्थ है कि इन्द्रिय तथा अर्थ का सम्बन्ध होने पर पुरुष में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। यह प्रस्तुत अर्थ (= धर्म) भविष्यत्काल में उत्पन्न होगा, अर्थात् वह ज्ञान के समय में नहीं रहता। प्रत्यक्ष-प्रमाण के साथ यह स्थिति है कि किसी वस्तु के सत् (वर्तमान) रहने पर ही उसका ग्रहण करता है, न कि असत् (भविष्यत्काल में आनेवाला जैसे धर्म) रहने पर। अतएव प्रत्यक्ष-प्रमाण धर्म का निमित्त नहीं हो सकता।

बुद्धिर्वा जन्म वा सन्निकर्षो वेति नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रम् ।
सतीन्द्रियार्थसंप्रयोगे नासतीत्येतावदवधार्यते । अनेकस्मिन्नवधार्यमाणे भिद्यते वाक्यम् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति ॥ ४ ॥

अभावोऽपि नास्ति । यतः—

बुद्धि, जन्म अथवा सन्निकर्ष—[इन तीनों का यथास्थान उपयोग किये जाने पर भी] इनमें से किसी के निश्चय (बल देने) के लिए यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ है। इसमें केवल इसी बात का निश्चय किया जाता है कि इन्द्रिय तथा अर्थ का सम्बन्ध रहने पर ही [प्रत्यक्ष होता है], उसके नहीं रहने पर नहीं होता। यदि सूत्रकार को अनेक पदार्थों का निर्माण करना अभीष्ट होता तो इससे वाक्य-भेद भी हो जाता। [सूत्र में एक ही बात का निर्णय हुआ है, अनेक बातों का नहीं।]

[साध्यकार का कथन है कि सूत्र में प्रत्यक्ष-शब्द अन्य प्रमाणों का भी उपलक्षण है—] प्रत्यक्ष के आधार पर प्रवृत्त होने के कारण अनुमान, उपमान तथा अर्थापत्ति भी धर्मज्ञान के कारण या निमित्त नहीं होंगे ॥ ४ ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि धर्मज्ञान के किसी भी साधन की सत्ता नहीं (= धर्म का अभाव है)। इसका कारण अगले सूत्र में दिया जा रहा है [जहाँ शब्द-प्रमाण या वेद को धर्मज्ञान का साधन बतलाया जायेगा]।

अधिकरण-५ (वैदिक विधि धर्मज्ञान का साधन है)

औपत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्य-
तिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक (नित्य) है; उस (धर्म) को जानने का साधन उपदेश (विशिष्ट शब्द का उच्चारण) है जो अनुपलब्ध पदार्थ के विषय में भी कभी असत्य (व्यतिरेक) नहीं होता; वह (उपदेश, वेद) एक प्रमाण है, क्योंकि वह निरपेक्ष (स्वाधीन) है—यह बात बादरायण को भी मान्य है ॥ ५ ॥

औपत्तिक इति नित्यं ब्रूमः । उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया । अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात्सम्बन्धः । औपत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य । कथम् ? उपदेशो हि भवति । उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम् ।

औपत्तिक (स्वाभाविक, जन्मजात) शब्द का हमारा अर्थ है नित्य (स्थिर)। इसका कारण यह है कि लक्षणावृत्ति से उत्पत्ति का अर्थ भाव (सत्ता) होता है। [उत्पन्न

वस्तु की ही सत्ता हुआ करती है इसलिए उत्पत्ति=भाव । औत्पत्तिक=स्वाभाविक ।] शब्द और अर्थ का परस्पर संबन्ध भाव (स्वभावसिद्ध) है, अवियुक्त है (कभी पृथक् नहीं होता) । पहले से उत्पन्न पदार्थों (शब्द तथा अर्थ) का बाद में सम्बन्ध होता हो—ऐसी बात नहीं । शब्द का अर्थ के साथ जो वह स्वाभाविक संबन्ध है वही अग्नि-होत्र-दि-रूप उस धर्म का कारण है जो (धर्म) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी अवगत नहीं होता है ।

यह कैसे [संभव है कि शब्दार्थ-संबन्ध धर्मज्ञान का कारण हो जाता है] ? बात यह है कि वह उपदेश है । उपदेश का अर्थ है किसी विशिष्ट शब्द का उच्चारण । [वैदिक विधियों को ही यहाँ उपदेश कहा गया है । जैसे—अग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकामः । यही धर्म के ज्ञान का साधन है ।]

अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य । न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति । यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येति न तच्छक्यते वक्तुं नैतदेवमिति यथा भवति । यथा विज्ञायते, न तथा भवति । यथैतन्न विज्ञायते तथैतदिति । अन्यदस्य हृदयेऽन्यद्वाचि स्यात् । एवं वदतो विरुद्धमिदं गम्यतेऽस्ति नास्ति वेति ।

इस ज्ञान (=ज्ञान के साधन)^१ में असत्यता नहीं है । इसका अर्थ है कि उस (वेद) से उत्पन्न ज्ञान कभी भी विपरीत या असत्य नहीं होता । जो ज्ञान असत्य नहीं होता उसके विषय में इस प्रकार की बातें नहीं कही जा सकती कि (१) यह ऐसा नहीं है जैसा वस्तुतः यह है । (२) यह जिस रूप में माना जा रहा है उस रूप में वस्तुतः नहीं है । (३) जिस रूप में इसका ज्ञान नहीं हो रहा है यह उस रूप का है । [ये सभी उदाहरण विपरीत या असत्य ज्ञान के हैं । यदि ज्ञान असत्य होता तो उस ज्ञान को देनेवाले] व्यक्ति के हृदय में दूसरी बात रहेगी, वाणी में दूसरी बात । इस प्रकार की बात कहने से परस्पर विरुद्ध कथन प्रतीत होगा कि असुख वस्तु है और नहीं भी है ।

विशेष—इस प्रकार ज्ञान के व्यतिरेक अर्थात् असत्य होने की स्थितियों का वर्णन किया गया । सत्यभूत ज्ञान में ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता । भाष्यकार वेद की सत्यता का निरूपण द्वितीय सूत्र की व्याख्या में ही कर चुके हैं । इसलिए यहाँ वैदिक उपदेश (विधि) को प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं । स्वाभाविक शब्दार्थ-सम्बन्ध के रूप में शब्द (उपदेश) सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है । सूत्र के अवशिष्ट शब्दों की व्याख्या अब की जा रही है—

तस्मात्प्रमाणम् । अनपेक्षत्वात् । न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यं पुरुषान्तरं वापि । अयं प्रत्ययो ह्यसौ । वादरायणग्रहणं वादरायणस्येवं मतं कीर्त्यते, वादरायणं पूजयितुं, नाऽऽस्मीयं मतं पर्युदसितुम् ॥ ५ ॥

इसलिए वेदवाक्य या शब्द प्रमाण माना गया है क्योंकि यह निरपेक्ष है (किसी से प्रमाणित होने की इसे आवश्यकता नहीं, स्वतः प्रमाण है) । इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऐसी स्थिति में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं है [कि वह ज्ञान वेदज्ञान को पुष्ट करे], एवं किसी दूसरे पुरुष की भी अपेक्षा नहीं है कि वह भी वैसा ही ज्ञान रखता है । [लोक में जहाँ अनासम्बन्ध होते हैं वहाँ उस वचन से निष्पन्न ज्ञान के सदृश दूसरे ज्ञान को

समीचीन पाकर उस वचन का प्रामाण्य निर्धारित होता है क्योंकि पौरुषेय वचनमें अप्रामाण्य की शंका घनी ही रहती है। किन्तु आसवचन में वक्ता के आस होने के निश्चयमात्र से प्रामाण्य होता है। यहाँ भी पौरुषेय वाक्य होने के कारण दोष-शंका रहती है—जैसे कारणदोषादि। अपौरुषेय वचन में इस प्रकार के किसी भी दोष की शंका लेशमात्र भी नहीं होती। इसीलिए ज्ञानान्तर या पुरुषान्तर की अपेक्षा नहीं रहती।] वैदिक विधिवाक्य में ऐसा ही निरपेक्ष ज्ञान है।

सूत्र में जो [ब्रह्मसूत्र के प्रणेता] बादरायण का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ है कि यह बादरायण का मत है। यह उल्लेख बादरायण के प्रति सम्मान-प्रदर्शन के लिए किया गया है, न कि यह दिखाना उद्देश्य है कि यह हमारा मत नहीं है (वस्तुतः जैमिनि का भी यही विचार है) ॥ ५ ॥

विशेष—इसी के साथ पञ्चम सूत्र का शाबर-भाष्य समाप्त हो जाता है किन्तु मीमांसा-दर्शन की अनेक स्थापनाओं का निदर्शन करने के लिए शबर ने इस स्थान पर एक पृथक् प्रबन्धात्मक ग्रन्थ जोड़ दिया है जिसे वृत्तिकार-ग्रन्थ कहा गया है। इस प्रकरण में शबर वृत्तिकार के मत से त्रिसूत्रीः (३-५) का पुनः विवेचन करते हैं। इसका मुख्य विषय शब्द-प्रामाण्य की परीक्षा है किन्तु इसे निम्नलिखित संक्षिप्त प्रकरणों में विभक्त किया गया है। कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में इन प्रकरणों को पृथक् करके विवेचन किया है। प्रत्येक की श्लोकसंख्या इस प्रकार है—प्रमाणों का अपरीक्ष्य होना (१०), निरालम्बनवाद (२०१), शून्यवाद (२६१), अनुमान परिच्छेद (१८८), शब्द परि० (१११), उपमानपरि० (५४), अर्थापत्तिपरि० (८८), अभावप्रामाण्य (५८), चित्राक्षेप (१५), संबन्धाक्षेप (४६), स्फोटवाद (१३७), आकृतिवाद (१७६), अपोहवाद (१७६), वनवाद (९७), संबन्धाक्षेप का परिहार (१४१), चित्राक्षेप-परिहार (२६), आत्मवाद (१४८)।

वृत्तिकार का अर्थ प्रभाव्याख्या में उपवर्ण समझा गया है। मीमांसासूत्रों पर वृत्ति लिखनेवालों में ये अन्यतम थे, किन्तु इनकी वृत्ति अब उपलब्ध नहीं है। बृहती तथा ऋजुविमला टीकाओं में कहा गया है कि भाष्यकार को वृत्तिकार का मत अभीष्ट नहीं है किन्तु मण्डनमिश्र ने मीमांसानुक्रमणी में कहा है कि शबर विशेष प्रयोजन से वृत्तिकारमत का उल्लेख करते हैं कि अनेक दार्शनिक विषयों पर कहने का अवसर मिले—

बह्वर्थं वक्तुकामेन तमर्थं सौत्रमिच्छता।

वृत्तिकारमतेनेयं त्रिसूत्री वर्ण्यतेऽन्यथा ॥

जो कुछ भी हो, यह प्रकरण मीमांसादर्शन तथा शाबरभाष्य के उत्तम स्थलों में है।

(वृत्तिकारग्रन्थ—प्रमाणों की अपरीक्ष्यता)

वृत्तिकारस्तु—अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयांचकार—‘तस्य निमित्तपरीष्टिः’ (मी० सू० १।१।३) इत्येवमादिम्। न परीक्षितव्यं निमित्तम्। प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि। तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि न परीक्षितव्यम्।

वृत्तिकार (उपवर्ण) ने उपयुक्त सन्दर्भ (३-५ सूत्र) का दूसरे प्रकरण से वर्णन किया है। वह सन्दर्भ ‘उस धर्म के ज्ञान के साधनों की परीक्षा’ (सूत्र ३) से आरम्भ होता है। [उस सूत्र में नञ् का अध्याहार करते हुए वृत्तिकार सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना

करते हैं—] धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्षादि तो प्रसिद्ध ही प्रमाण हैं (सभी लोगों को इन प्रमाणों पर विश्वास है)। जहाँ तक शास्त्र (अर्थात् शब्द-प्रमाण) का प्रश्न है, वह भी तो प्रमाणों के ही अन्तर्गत है; इसलिए उसकी परीक्षा भी नहीं करनी चाहिए।

विशेष—वेदवाक्य के रूप में जो शास्त्र है उसके विषय में यह विचार नहीं करना चाहिए कि वेद प्रमाण है कि नहीं। यदि प्रसिद्ध वस्तु के प्रामाण्य की परीक्षा की जायेगी तो किसी दूसरे कारण से ही परीक्षा करनी पड़ेगी। उस कारण की परीक्षा भी किसी प्रमाण से ही करनी पड़ेगी—इस प्रकार की अनवस्था होगी। इसलिए प्रामाण्य को स्वतः मानना आवश्यक है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान वेदवाक्य भी प्रमाण है—इसलिए प्रमाण की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। इसपर पूर्वपक्षी शंका करता है कि प्रमाणों में भ्रम होने की संभावना होती है।

अत्रोच्यते—व्यभिचारात्परीक्षितव्यम्। शुक्तिका हि रजतवत्प्रकाशते यतः। तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति, तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि। तत्रापरीक्ष्य प्रवर्तमानोऽर्थाद्विहन्येत। अनर्थं चाप्नुयात्कदाचित्।

नैतदेवम्। यत्प्रत्यक्षं, न तद् व्यभिचरति। यद् व्यभिचरति न तत्प्रत्यक्षम्।

पूर्वपक्ष की ओर से उत्तर दिया जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में व्यभिचार (गलती, भ्रम, अनियत ज्ञान) होने की संभावना रहती है इसलिए उनकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। उदाहरण के लिए शुक्तिका (सीपी) रजत के समान चमकती है [जिससे सीप में रजत ज्ञान हो जाता है]। इस प्रत्यक्ष-प्रमाण से अशुद्ध ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के कारण अनुमान आदि प्रमाण भी अशुद्ध ज्ञान ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में परीक्षा किये बिना जो [शास्त्र की ओर या लोकव्यवहार के प्रति] प्रवृत्त होगा वह निःश्रेयस में अवश्य ही असफल होगा। हाँ, कभी-कभी अनर्थ (अनिष्ट) की स्थिति में भी पड़ सकता है।

सिद्धान्तपक्षी कहेगा कि ऐसी बात नहीं है। जो प्रत्यक्ष-ज्ञान है (जैसे रजत देखकर रजत का ज्ञान), वह कभी अशुद्ध नहीं होता (वह अयथार्थ नहीं हो सकता); और जो अयथार्थ ज्ञान होता है (जैसे शुक्तिका में रजत का ज्ञान) वह प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता (अपितु वह प्रत्यक्षाभास है)।

(प्रत्यक्ष का लक्षण—चतुर्थं सूत्र की व्याख्या)

किं तर्हि प्रत्यक्षम् ? तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्। यद्विषयं ज्ञानं, तेनैव संप्रयोगः इन्द्रियाणां, पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्। यदन्य-विषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत्प्रत्यक्षम्। यदन्यविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत्प्रत्यक्षम्।

तब प्रत्यक्ष है क्या ? [इसके उत्तर में वृत्तिकार प्रत्यक्षलक्षण वाले चौथे सूत्र को ईषत् परिवर्तित करते हैं—सत् और तत् के स्थानों को परस्पर बदल देते हैं—‘तत्संप्रयोगेसत्प्रत्यक्षम्’ इस प्रकार इस सूत्र में भी वृत्तिकार ने अपनी स्वाधीनता दिखाई है।] वही ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष (सत् प्रत्यक्षम्) है जो इन्द्रियों का किसी पदार्थविशेष के साथ संबन्ध होने से (तत्संप्रयोगे) पुरुष की बुद्धि में जन्म लेता है।

[तत्संप्रयोगे का विशेष-उपयोग यह है कि] जिस विषय का ज्ञान हो रहा हो, उसी पदार्थविशेष के साथ-यदि इन्द्रियों का सम्बन्ध भी हो रहा है तब पुरुष को उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सच्चा प्रत्यक्ष है। दूसरी ओर जब ज्ञान दूसरे विषय में हो तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध दूसरे के साथ हो तब वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं होगा। [इसीलिए जब शुक्तिका का ज्ञान रजतरूप में होता है तब यह प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय का सम्बन्ध सीप से हो रहा है और ज्ञान रजत का होता है। रजत के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध हो और उसी का ज्ञान भी हो तभी प्रत्यक्ष होगा।]

कथं पुनरिदमवगम्यते—इदं तत्संप्रयोगे, इदमन्यत्संप्रयोग इति ? यन्नान्य-संप्रयोगे तत्तत्संप्रयोगे । एतद्विपरीतमन्यसंप्रयोग इति ।

कथं ज्ञेयम्—यच्छ्रुतिकायामपि रजतं मन्यमानो रजतसंनिवृष्टं मे चक्षुरिति मन्यते ? बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते—‘नैतदेवम्’ ‘मिथ्याज्ञानम्’ इति, तदन्य-संप्रयोगे । विपरीतं तत्संप्रयोग इति ।

पूर्वपक्षो प्रश्न करता है कि इस बात को हम कैसे जान सकेंगे कि अमुक ज्ञान की स्थिति में उसी विषयविशेष के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है तथा अमुक ज्ञान में दूसरे विषय के साथ इन्द्रिय का संबन्ध है ? सिद्धान्त पक्ष का उत्तर है कि उसी विषयविशेष के साथ इन्द्रिय का संबन्ध (तत्संप्रयोग) वहाँ होता है जहाँ किसी दूसरे पदार्थ के साथ इन्द्रियसम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत जहाँ स्थिति हो, समझना चाहिए कि इन्द्रिय अन्य वस्तु के साथ संबद्ध है।

पूर्वपक्षी—किन्तु इस बात को कैसे जानें जब कि सीपमें भी रजत का ज्ञान करनेवाला व्यक्ति यही समझता है कि मेरी चक्षुरिन्द्रिय रजत के संनिवृष्ट (संबद्ध) है ? उत्तर—जब किसी भी अवस्था में कोई बाधक ज्ञान उत्पन्न हो कि [जिस वस्तु को हम जैसी समझ रहे थे] वह वैसी नहीं है, या हमारा वह ज्ञान मिथ्या-ज्ञान था इत्यादि, तब समझना चाहिए कि यहाँ इन्द्रिय का अन्य विषय से संबन्ध था। इसके विपरीत जहाँ ऐसा बाधक ज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ इन्द्रिय का उसी विषयविशेष से संबन्ध मानना चाहिए।

प्रागबाधकज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते—यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्या-ज्ञानस्य वा कश्चिद्विशेषः ?

यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति । इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः सौक्ष्म्या-दिभिर्बाह्यो वा विषयः । ततो मिथ्याज्ञानम् । अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम् । इन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षो हि सम्यग्ज्ञानस्य हेतुः । असति तस्मिन्मिथ्याज्ञानम् । तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः । दृष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति ।

पूर्वपक्षी—जब तक किसी बाधक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक किसी ज्ञान को मिथ्या कैसे समझेंगे ? ज्ञानकाल में तो कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती कि सम्यक्-ज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान में अन्तर प्रकट करे। [मिथ्याज्ञान की स्थिति में बाधक-ज्ञान उत्तरकाल में भले ही उत्पन्न होता है किन्तु उस समय तो वह भी सम्यक्-ज्ञान जैसा ही लगता है तब कैसे कहेंगे कि यहाँ अन्यसंप्रयोग है—इन्द्रिय दूसरे विषय के साथ सम्बद्ध है ?]

उत्तर—[मिथ्या ज्ञान की पहचान भी ज्ञानकाल में हो सकती है; क्योंकि मन, इन्द्रिय और बाह्य विषय—इनमें किसी एक या सर्वाँ का अस्वस्थता से ही मिथ्याज्ञान होता है। इसे हम उस समय भी जान सकते हैं।] चक्षु आदि से (? काम, क्रोधादि विकारों से) मन यदि आहत हो, तिमिरादि रोगों से यदि इन्द्रिय (नेत्रादि) अस्वस्थ हों अथवा सूक्ष्मता आदि के कारण यदि बाह्य विषय ग्रहण किये जाने के योग्य न हों—तब ऐसी स्थिति में ही मिथ्याज्ञान होता है। दूसरी ओर यदि वे करण या साधन उपहृत नहीं हों (दोष से युक्त न हों) तो सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है।

इन्द्रिय, मन और अर्थ (विषय) का संनिकर्ष (सम्बन्ध) ही सम्यक् ज्ञान का कारण है। यदि वह सम्बन्ध नहीं हो (या इसमें कोई दोष रह जाये) तो मिथ्याज्ञान होता है। किसी भी करण में (मन, इन्द्रिय या विषय में) वर्तमान दोष मिथ्याज्ञान का हेतु है, क्योंकि करणों के दोषयुक्त होने से ज्ञान मिथ्या होता है।

विशेष—इस संदर्भ में दो पाठ अशुद्ध प्रतीत होते हैं—(१) चक्षुरादिभिः—चक्षु आदि से मन का उपहृत होना संगतार्थ नहीं लगता। इन अंगों में किसी रोग से मन अस्वस्थ हो सकता है किन्तु ऐसी स्थिति में 'रोगादिभिः' कहना अधिक उचित होता। (२) तदुभयगतः—चूँकि करणों की संख्या तीन है, इसलिए 'उभय' ठीक नहीं। पाठ के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि करणों में दोष तथा उनसे सम्बन्ध होने में दोष—इन दोनों से मिथ्याज्ञान होता है।

कथमवगम्यते ? दोषापगमे संप्रतिपत्तिदर्शनात् । कथं दुष्टादुष्टावगम इति चेत्—प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि । तस्माद् यस्य च दुष्टं कारणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः, नान्यः इति ।

इस बात को कैसे समझा जा सकता है ? उपर्युक्त दोषों के दूर हो जाने पर सभी व्यक्तियों में उस ज्ञान के विषय में सहमति (संप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति, या परस्पर मतभेद का अभाव) हो जाती है कि यह सम्यक् ज्ञान है। [इससे हम समझते हैं कि दोषों के कारण मिथ्याज्ञान और उनके अभाव में सम्यक् ज्ञान होता है।]

पूर्वपक्षो—किन्तु यह कैसे जाना जाये कि उक्त करणों में से कोई सदोष है कि निर्दोष ?

उत्तर—प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करने पर भी यदि हम कोई दोष न निकाल सकें तो किसी दोषकारक प्रमाण के अभाव में करणों को निर्दोष समझते हैं।

इसलिए उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि जिस ज्ञान का कारण दोषयुक्त हो अथवा जहाँ उत्तरकाल के बाधक ज्ञान द्वारा 'मिथ्या' का बोध हो केवल वही ज्ञान अयथार्थ होता है, दूसरा ज्ञान नहीं। [इस प्रकार सिद्ध किया गया कि प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।]

(निरालम्बनवाद)

ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत्प्रत्ययः । प्रत्ययस्य हि निरालम्बनतास्वभावः उपलक्षितः स्वप्ने । जाग्रतोऽपि स्तम्भ इति वा कुड्य इति वा प्रत्यय एव भवति । तस्मात्सोऽपि निरालम्बनः ।

उच्यते । स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्यसिष्यतीति ।

[पूर्वपक्षी अव प्रत्यक्ष-प्रमाण का खंडन करने के लिए प्रत्ययवाद का आश्रय लेता है तथा ज्ञान के बाह्याधार की स्थिति पर आक्षेप करता है—] जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का कोई बाह्य आलम्बन या आधार नहीं होता उसी प्रकार हमारा समस्त ज्ञान भी आलम्बनहीन है । स्वप्न के समय हम देखते हैं कि ज्ञान किसी आलम्बन पर आश्रित नहीं रहता । जाग्रत अवस्था में भी स्तम्भ, दीवार इत्यादि के भी तो प्रत्यय (ज्ञान) ही होते हैं । इसलिए प्रत्यय-सामान्य होने के कारण ये जाग्रदवस्था के ज्ञान भी आलम्बनहीन ही होंगे ।

उत्तर के रूप में वृत्तिकार कहते हैं कि स्तम्भ के रूप में जो जाग्रत अवस्था में ज्ञान होता है वह बिल्कुल ही निश्चित है; तब यह ज्ञान कैसे अयथार्थ हो सकता है ?

विशेष—निरालम्बनवाद के अन्तर्गत समस्त के रूप में जो जाग्रद् अवस्था में ज्ञान होता है वह बिल्कुल ही निश्चित है तब यह ज्ञान कैसे ० यथार्थ हो सकता है ?

विशेष—निरालम्बनवाद के अन्तर्गत समस्त ज्ञान को बाह्याधार-शून्य दिखाने में पूर्व-पक्षी का यह उद्देश्य है कि जब ज्ञान का बाह्य विषय ही नहीं रहेगा तब इन्द्रिय और विषय का संबन्ध भी नहीं हो सकेगा । ऐसी स्थिति में सिद्धान्त-पक्ष से जो प्रत्यक्ष का लक्षण दिया गया है वह संगत नहीं होगा । इसका अर्थ होगा कि ज्ञानमात्र स्वभावतः अयथार्थ है और इसीलिए प्रमाणों (ज्ञान के साधनों) की परीक्षा आवश्यक है ।

इसके पूर्व वृत्तिकार ने यह दिखलाया था कि ज्ञान तभी अयथार्थ होता है जब उसके कारणों में दोष हो । पूर्वपक्षी इस प्रकरण में दिखाना चाहता है कि इन्द्रिय, मन या विषय में दोष के कारण ही ज्ञान अयथार्थ नहीं होता, अपितु ज्ञान की वस्तुनिष्ठ सत्ता न होना ही इसका कारण है । निरालम्बनवाद का समर्थन योगाचार (बौद्ध) दर्शन में हुआ है, जिसकी स्थापना मैत्रेयनाथ (२७०-३५० ई०) ने की थी । इस दर्शन का दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है । इसे पूर्वपक्ष में रखकर भारतीय आस्तिक दार्शनिकों ने प्रबल आलोचना की है । इसके अनुसार विज्ञानमात्र सत् है, वस्तु नहीं ।

स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताऽसीत्, प्राक्प्रबोधनात्, न तत्र कश्चिद्विशेष इति ।

न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात् । अविपर्ययाच्चेतरस्मिन् ।

पूर्वपक्षी—[यदि जाग्रदवस्था के ज्ञान को सुपरिनिश्चित कहते हैं तो] स्वप्नावस्था में भी तो उसी प्रकार का सुनिश्चित ज्ञान तब तक हो रहा था जब तक जागरण नहीं हो गया था । उस स्वप्नावस्था के ज्ञान में कोई विशेष बात हुई, ऐसा तो नहीं है ।

उत्तर—नहीं, स्वप्न के ज्ञान में विपर्यय (असत्यता, अयथार्थता) दिखलाई पड़ता है जब कि जाग्रदवस्था के ज्ञान में यह विपर्यय नहीं रहता । [इसलिए स्वप्न और जागरण के ज्ञानों में अन्तर तो है ही । स्वप्न के बाद जब हम जागते हैं तो बाधक-ज्ञान से स्वप्न-ज्ञान खण्डित हो जाता है । जागरण ज्ञान में (भ्रम की स्थितियों के अतिरिक्त) ऐसा कहीं नहीं होता ।]

तत्सामान्यादितरत्रापि भविष्यतीति चेत्—यदि प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, जाग्रत्प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति । अथ प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः,

न शक्यते प्रत्ययत्वादयमन्य इति वक्तुम् । अन्यतस्तु स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययादवगतः ।

पूर्वपक्षी—स्वप्नज्ञान की समानता जागरण से है, इसलिए स्वप्नज्ञान में यदि बाधक ज्ञान से अयथार्थता की स्थिति ज्ञात होती है तो जागरणज्ञान में भी अयथार्थता हो सकती है ।

उत्तर—यदि केवल प्रत्यय या ज्ञान होने के कारण (केवल इतने ही हेतु से) हम स्वप्नगत ज्ञान को मिथ्या कहते, तब ही जागरणज्ञान भी मिथ्या कहला सकता था । कहने का अर्थ है कि स्वगत ज्ञान के मिथ्या होने का हेतु प्रतीति है (स्वप्न में ही हमें बोध होता है), तो यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान (प्रत्यय) होने के कारण जागरणज्ञान अन्य प्रकार का (अर्थात् मिथ्या नहीं) है । [यदि प्रतीतिमात्र को हेतु मानते हैं तथा मिथ्यात्व को साध्य, तो जैसे स्वप्नज्ञान में मिथ्यात्व सिद्ध होगा वैसे ही जागरणज्ञान में भी होगा । प्रतीति दोनों की ही होती है, दोनों ज्ञान हैं । किन्तु मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए प्रतीति-रूप हेतु वस्तुतः है ही नहीं ।] वास्तव में, स्वप्नज्ञान के मिथ्या होने की सिद्धि अन्य कारणों से होती है—जैसे विपर्यय अर्थात् बाधक-ज्ञान के द्वारा खण्डित होना । [इसलिए स्वप्न और जागरण के ज्ञान को समान स्तर पर लाना उचित नहीं है । स्वप्नगत ज्ञान इसलिए मिथ्या है कि उसका विपर्यय होता है । जागरण ज्ञान में विपर्यय नहीं होता ।]

कुत इति चेत् — सनिद्रस्य मनसो दोर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च । सुषुप्तस्याभाव एव । अचेतयन्नेव हि सुषुप्त इत्युच्यते । तस्माज्जाग्रतः प्रत्ययो न मिथ्येति ।

ननु जाग्रतोऽपि करणदोषः स्यात् । यदि स्यादवगम्येत । स्वप्नदर्शनकालेऽपि नावगम्यत इति चेत् — तत्र प्रबुद्धो ह्यवगच्छति 'निद्राकान्तं मे मन आसीदिति' ।

पूर्वपक्षी—यह कैसे होता है ? **उत्तर**—जब मनुष्य निद्रित रहता है तब उसका मन बहुत दुर्बल (निष्क्रिय) रहता है । इसलिए स्वप्न के आरम्भ में और स्वप्न के अन्त में स्वप्नगत ज्ञान के मिथ्या होने का कारण निद्रा ही है । [स्वप्न के आरंभ से लेकर अन्त तक जो ज्ञान होता है उसका करण (साधन) सनिद्र मन है जो निष्क्रिय हो जाता है । इसलिए उस अवस्था में करणगत दोष के रूप में निद्रा ही मिथ्याज्ञान का कारण है ।] दूसरी ओर यदि मनुष्य सुपुप्त है (गहरी नींद में सोया है) तो उसे ऐसा ज्ञान नहीं होता । सुपुप्त उसी को कहते हैं जिसे चेतना बिल्कुल न हो । इसलिए (स्वप्न तथा जागरण की अवस्थाओं में अन्तर होने के कारण) जाग्रदवस्था का ज्ञान मिथ्या नहीं कहला सकता ।

[भाव यह है कि स्वप्नज्ञान में मन-रूपी करण का दोष होता है, जब कि जाग्रदवस्था के ज्ञान में ऐसा करणदोष नहीं रहता । इसलिए स्वप्नगत ज्ञान मिथ्या है, जागरण ज्ञान नहीं । अब पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि] जागरण में भी तो करणदोष हो सकता है ? उत्तर है कि करणदोष रहेगा तो उसे जान लिया जायेगा ।

पूर्वपक्षी—स्वप्न-दर्शन के समय भी करणगत दोष ना पता लगना संभव नहीं है ;

[इसलिए दोषज्ञान के अभाव में स्वप्नगत ज्ञान को भी यथार्थ क्यों नहीं कहें ? उसे मिथ्या क्यों मानें ?]

उत्तर—स्वप्नज्ञान को इसलिए मिथ्या मानते हैं कि स्वप्न से जाग जाने पर मनुष्य बोध करता है कि मेरा मन निद्रा से आक्रान्त था । [इस प्रकार वह इस बात को समझता ही है कि निद्रा-रूप करण-दोष तो उसे स्वप्न के समय था ।]

विशेष—इस स्थान के बाद के भाष्य को कुमारिल ने भ्रमवश 'शून्यवाद' कहकर पृथक् कर दिया है, इसका अनुसरण परवर्ती अनेक टीकाकारों ने किया है । वस्तुतः यह अंश निरालम्बवाद के ही अन्तर्गत है । बौद्धों का एक दार्शनिक संप्रदाय माध्यमिकों का था जो शून्यवादी कहलाते थे—इसके अनुसार वाह्यार्थ तथा ज्ञान दोनों में किसी की भी सत्ता नहीं । भाष्य के इस अंश में शून्यवाद के खण्डन का प्रयास नहीं किया गया है, अपितु पूर्वोक्त विज्ञानवाद का ही खण्डन है । भाष्यकार स्वयं इस प्रसंग में आगे चलकर कहते हैं—अतो न निरालम्बनः प्रत्यक्षः । भाष्यकार के जिस 'शून्यस्तु कथम्' वाक्य ने उक्त भ्रम उत्पन्न किया है उसका अर्थ इतना ही है कि ज्ञान वाह्यार्थ-शून्य है, वह कैसे हो सकता है ? यह बात नहीं कि शून्यवादियों के समान स्वयं ज्ञान का निषेध किया जा रहा है । यदि शून्यवाद-प्रकरण का अर्थ 'शून्यस्तु' से प्रारंभ होनेवाले भाष्य की व्याख्या हो तो ठीक है । किन्तु बौद्धों के शून्यवाद का भ्रम तो उत्पन्न हो ही जायगा । जो कुछ भी हो, भाष्यकार माध्यमिक शून्यवाद का खंडन करने के लिए यह अंश नहीं दे रहे हैं ।

शून्यस्तु, कथम् ? अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे । प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः । अतस्तद्भिन्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः ।

स्यादेतदेवम्—यद्यर्थकारा बुद्धिः स्यात् । निराकारा तु नो बुद्धिः । आकारवान् बाह्योऽर्थः । स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्ध्यन्तरविषया । क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यत इति ।

पूर्वपक्षी—किन्तु वास्तव में ज्ञान तो शून्य होता है (वस्तुगत सत्ता से रहित या वाह्यार्थरहित, निरालम्बन होता है) । यह कैसे ? चूँकि अर्थ (विषय) तथा ज्ञान के आकार में भेद हम नहीं पाते । इन्द्रियों के द्वारा जिसका ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है वह बुद्धि या ज्ञान ही है । इसलिए उस ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु या अर्थ है, ऐसा हम नहीं पाते ।

उत्तर—ऐसा तभी हो सकता था जब पदार्थ के आकार का ही ज्ञान भी होता । किन्तु सच पूछें तो हमारा बुद्धि (ज्ञान) निराकार होती है । जिसका आकार होता है वह तो वास्तव में बाह्य पदार्थ है । वह बाह्य देश से संबद्ध रहता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होता है । [प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण पदार्थ विषय है, ज्ञान नहीं । इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक प्रतीति स्वांश का ग्रहण न करके घट-पटादि ग्राह्य विषय का ही ग्रहण करती है ।]

[मान लिया कि ग्राह्य से ग्राहक (ज्ञान) भिन्न है, किन्तु ऐसा तो हो सकता है कि अतीत-ज्ञान ही उत्तर-ज्ञान का ग्राह्य हो जाये अर्थात् ज्ञान ही ग्राह्य-ग्राहक दोनों रहे, अर्थ

की सत्ता नहीं होगी। वैभाषिक बौद्धमत के इस सिद्धान्त का खंडन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—] प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय तो पदार्थ ही होता है, कोई दूसरा (अतीत) ज्ञान उसका विषय नहीं होता। [बौद्धों के अनुसार] समस्त ज्ञान क्षणिक होता है, इसलिए अतीत-ज्ञान उत्तर-ज्ञान के काल में अवस्थित नहीं रहेगा।

उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते । ज्ञापयति चार्थान्तरं प्रदीपवदिति यदुच्यते, तन्न । न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते । ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति । तत्र योगपद्यमनुपपन्नम् ।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि [आप लोग भी तो मानते हैं कि] बुद्धि उत्पन्न होते-होते ही स्वयं ज्ञात हो जाती है और इसके साथ दूसरे पदार्थ को भी उस प्रकार प्रकाशित करती है जैसे कोई प्रदीप स्वयं ज्ञात होकर दूसरे पदार्थों को भी ज्ञात कराता है। [इस प्रकार पूर्वपक्षी हमारे सिद्धान्त के आधार पर ही हमारी इस बात का विरोध कर सकता है कि ज्ञान का विषय ज्ञान नहीं होता। पूर्वपक्षी सिद्ध कर देता है कि आपके अनुसार भी ज्ञान अपने विषय को ज्ञात कराने के साथ-साथ अपने को भी ज्ञात करा देता है।

सिद्धान्तवादी कहेंगे कि ऐसी बात नहीं है। जब तक पदार्थ का ज्ञान नहीं हो जाता कोई व्यक्ति ज्ञान का ग्रहण नहीं कर सकता (अर्थात् ज्ञान का ज्ञान होने के पूर्व पदार्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, पदार्थ की सत्ता खंडित नहीं हो सकती)। पदार्थ का ज्ञान हो जाने के बाद ही कोई मनुष्य अनुमान से जान पाता है [कि ज्ञान हुआ है]। ऐसी स्थिति में अर्थ तथा ज्ञान दोनों एक ही साथ ज्ञान के विषय नहीं हो सकते। [अर्थ का ज्ञान तथा ज्ञान का ज्ञान दोनों विभिन्न कालों में उत्पन्न होते हैं।]

विशेष—ज्ञान के ज्ञान के विषय में न्याय-दर्शन तथा मीमांसा-दर्शन में मतभेद है। नैयायिक अनुव्यवसाय (संवित्ति) को तथा मीमांसक ज्ञातता (प्रकटता) को ज्ञानफल मानते हैं। समस्या यह है कि जब हमने घट का प्रत्यक्ष किया तो घट का ज्ञान हुआ, किन्तु दूसरे व्यक्ति को कैसे ज्ञात हो कि हमें घट ज्ञान हुआ है? नैयायिक कहेंगे कि ज्ञान का भी ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। हम कहते हैं—घटमहं जानामि। मीमांसकों के अनुसार इस ज्ञान का स्वरूप होगा—ज्ञातो मया घटः अर्थात् घट में निहित 'ज्ञातता' नामक धर्म प्रकट हो जाता है। यही ज्ञान का फल है। दोनों स्थितियों में अर्थज्ञान के बाद ही यह ज्ञान होता है।

ठीक ऐसी ही समस्या मम्मट के सामने काव्यप्रकाश में आयी है जहाँ उन्होंने लक्षणावृत्ति के फल तथा विषय को युगपत् माननेवालों की आलोचना की है—'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्। प्रस्तुत संदर्भ में भी अर्थ और ज्ञान के ज्ञानों का योगपद्य खंडित किया गया है। पहले अर्थ का ज्ञान होता है, बाद में उस व्यक्ति को 'घटमहं जानामि' इस वाक्य से अनुमान होता है कि उसे ज्ञान हो गया।

ननूत्पन्नायामेव बुद्धौ ज्ञातोऽर्थ इत्युच्यते, नानुत्पन्नायाम् । अतः पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, पश्चाज्ज्ञातोऽर्थः ।

सत्यम् । पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते । भवति हि कदाचिद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन्नज्ञात इत्युच्यते । न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भतम् । तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिरव्यपदेश्यं च न प्रत्यक्षम् । तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः ।

पूर्वपक्षी पुनः कहते हैं कि आपके अनुसार भी तो ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बाद ही यह कहा जाता है कि पदार्थ का ज्ञान हुआ (ज्ञातः अर्थः)। ज्ञान उत्पन्न होने के पहले तो ऐसा कहना सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पहले ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पदार्थ ज्ञात होता है। [पूर्वपक्षी किसी भी स्थिति में विज्ञान की ही एकमात्र सत् दिखाना चाहता है ज्ञान सत् है—वाक्यार्थ नहीं।]

उत्तर—आप ठीक कहते हैं। यह बात सही है कि पहले ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु पहले जाना नहीं जाता है। (उत्पत्ति और ज्ञान दो चीजें हैं)। इसलिए कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई पदार्थ ज्ञात होने के बाद भी अज्ञात ही कहलाता है (जैसे भूतकालीन किसी घटना की चर्चा चलने पर कोई कहे कि मुझे कुछ याद नहीं कि यह बात मैं कभी भी जानता था)।^१

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि विषय या अर्थ का निर्देश (ज्ञान) हुए बिना किसी ज्ञान के आकार का ग्रहण नहीं हो सकता। [यदि ज्ञान तथा विषय दोनों को हम प्रत्यक्ष से जान पाते तो ऐसा होना सम्भव नहीं था।] इसलिए ज्ञान का निर्देश (प्रत्यक्ष के विषय के रूप में) नहीं किया जा सकता और जिस विषय का निर्देश नहीं हो सकता (कि यह अमुक है) उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। निष्कर्षतः ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। [वस्तुतः ज्ञान अनुमेय होता है।]

अपि च काममेकरूपत्वे दृष्टरेवाभावो नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः । न चैकरूप्य-मनाकारमेव हि बुद्धिमनुमिमामहे । साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः । तस्मा-दर्थालम्बनः प्रत्ययः ।

इसके अतिरिक्त, यदि आप स्वेच्छा से ज्ञान तथा उसके विषय को एकरूप मान लेते हैं तो ऐसी स्थिति में ज्ञान की ही पृथक् सत्ता का अभाव मानना पड़ेगा, विषयभूत अर्थ का नहीं, क्योंकि उसका तो प्रत्यक्ष ही होता है। [एकरूप मानने की स्थिति में एक वस्तु का अभाव होगा ही और वह अभाव बुद्धि का ही होगा।]

वास्तव में दोनों एक रूप नहीं हैं। जब विषय का प्रत्यक्ष करने के बाद हम ज्ञान का अनुमान करते हैं, तब उस समय ज्ञान का कोई आकार नहीं रहता है। दूसरी ओर आकारसहित अर्थ का ही प्रत्यक्ष बोध होता है।

इसलिए ज्ञान अर्थ पर ही आश्रित है।

विशेष—इस प्रकार वृत्तिकार के मतानुसार शबरस्वामी निरालम्बनवाद का खंडन करते हुए प्रत्यक्ष के अपरीक्ष्य होने की सिद्धि करते हैं। समस्त ज्ञान किसी-न किसी आलम्बन पर ही आश्रित है। वाक्यार्थ की सत्ता होती ही है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अगले संदर्भ में प्रत्यक्ष-विमर्श का उपसंहार किया जा रहा है—

अपि च नियतनिमित्तस्तन्तुष्वेवोपादीयमानेषु पटप्रत्ययः । इतरथा तन्वादां-नेऽपि कदाचिद् घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात् । न चैवमस्ति । अतो न निरा-लम्बनः प्रत्ययः । अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षम् ।

इसके अतिरिक्त भी युक्ति है कि पट का ज्ञान जब भी उत्पन्न होता है तब नियमित रूप से यह [पट के अवयव-भूत] तन्तुओं का उपादान (ग्रहण) करने पर ही आता है।

[यह सिद्ध करता है कि ज्ञान का अपने निमित्त-भूत पदार्थ के साथ नियत संबन्ध है और इसलिये पदार्थ को सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।] यदि ऐसा होता (= तन्तु से बने हुए पट तथा पटज्ञान में नित्य सम्बन्ध नहीं होता) तो तन्तुओं को उपस्थिति रहने पर भी, स्वस्थ इन्द्रियों से युक्त पुरुष को, कभी-कभी घटज्ञान होने लगता [क्योंकि तब तन्तुओं से बने पट के ज्ञान और घट के ज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं रहता] । किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता है ।

इसलिये ज्ञान आलम्बन (बाह्यार्थ) से रहित नहीं होता है और इसलिये प्रत्यक्ष भी अयथार्थ नहीं होता । [फलस्वरूप उसकी परीक्षा की आवश्यकता नहीं है ।]

(अनुमानलक्षण)

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः ।

तत्तु द्विविधं—प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं, सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च । प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं यथा—धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम् ।

सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा—देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्या-दित्यगतिस्मरणम् ।

जब [साध्य-साधन के बीच वर्तमान] व्याप्ति-सम्बन्ध ज्ञात या सुप्रसिद्ध रहता है और उस सम्बन्ध के एक भाग का ज्ञान होने पर, दूसरे भाग में स्थित ऐसे पदार्थ का ज्ञान हो जो इन्द्रियों के साक्षात् संपर्क में न हो—तो इस दूसरे ज्ञान को अनुमान कहते हैं । [धूम तथा अग्नि का सहचार सम्बन्ध ज्ञात है । इस सम्बन्ध का एक भाग इन्द्रिय के संपर्क में है—धूम जो पर्वत पर दिखलाई पड़ रहा है, अब इसका दूसरा भाग जो इन्द्रिय के संपर्क में नहीं है उसका अर्थात् अग्नि का ज्ञान उक्त सम्बन्ध के आधार पर हो जा रहा है—इसे अनुमान कहेंगे ।]

इसके दो भेद हैं—वह अनुमान जिसमें व्याप्ति-सम्बन्ध प्रत्यक्षतः दिखलाई पड़ता है तथा वह अनुमान जिसमें व्याप्ति-सम्बन्ध सामान्य रूप से दिखलाई पड़ता है ।

(१) प्रत्यक्षतः जिसका सम्बन्ध ज्ञात होता है, उस अनुमान का उदाहरण है—धूम का ज्ञान होने से अग्नि का ज्ञान होना । [धूम तथा अग्नि के बीच का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ज्ञात हो चुका है तब दूसरी बार केवल धूम देखकर अग्नि का अनुमान होता है । भाष्यकार ने 'आकृति' शब्द का प्रयोग यह दिखाने के लिए किया है कि केवल आकृतियों (जातियों) में ही साध्य-साधन की व्यवस्था होती है ।]

(२) सामान्य रूप से भी व्याप्त सम्बन्ध का दर्शन किया जाता है । इस अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है—देवदत्त को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा हुआ देखकर जैसे समझते हैं कि वह गतिशील है (क्योंकि गति के बाद ही वह दूसरे स्थान पर पहुँच सकता है), उसी प्रकार सूर्य की स्थानान्तर-प्राप्ति के आधार पर उसकी गति का अनुमान होता है ।

विशेष—प्रथम भेद में जहाँ धूम-विशेष और अग्नि-विशेष को देखकर व्याप्तिका ज्ञान होता है वही दूसरे भेद में दो सामान्यों के बीच का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—

यो यो देशान्तरप्राप्तिमान् स स गतिमान्—यथा देवदत्तः (दृष्टान्त) ।
यहाँ गति और प्राप्ति दोनों सामान्य हैं, इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है ।
आदित्य की गति वास्तव में भ्रम है जो वैज्ञानिक प्रमाणों से सिद्ध है । पृथ्वी की चक्रगति से
सूर्य चलता प्रतीत होता है ।

(शास्त्र तथा उपमान)

शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् । उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे
दुद्धिमुत्पादयति । यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य ।

शास्त्र (वेद, विधिवाक्य) वह प्रमाण है जिससे शब्द-ज्ञान के बाद इन्द्रिय से असम्बद्ध
पदार्थ (जैसे—धर्म, अधर्म) का विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है । [भाष्यकार सामान्य शब्द-
प्रमाण का लक्षण नहीं देते । शब्द का एक भेद-विशेष जो विधि है, उसी पर शबर का आग्रह
है । धर्मज्ञान में विधि का विशेष स्थान होने के कारण उसे ही शास्त्र कहा गया है ।^१ इस
को दृष्टि में रखकर ही वृत्तिकार ने स्थापना की है कि प्रमाणों की परीक्षा अनावश्यक है ।
इस प्रकार 'शब्द' का अर्थ वैदिक विधि है और 'अर्थ' का अभिप्राय है धर्म-अधर्म (जो
विधियों का विवेच्य विषय है) । द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक (८।१३) । ऋजुविमला के अनुसार
शब्द-विज्ञान का अर्थ है—शब्द के आधार पर अर्थ का ज्ञान, विधेय या कर्तव्य-विषय
का ज्ञान । असंनिकृष्ट अर्थ = क्रियाप्रवर्तक विधिवाक्य । इसलिए शब्द के माध्यम-से प्राप्त
कर्तव्यज्ञान के निर्देशक विधिवाक्य शास्त्र हैं ।—इस प्रकार अनुमान तथा शास्त्रप्रमाणों की
परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं ।]

उपमान सादृश्य को कहते हैं । वह इन्द्रियों से असम्बद्ध पदार्थ के विषय में ज्ञान
उत्पन्न करता है, यथा—गवय (गौ के सदृश पशुविशेष) का दर्शन गौ का स्मरण करा
देता है । [यह अनुवाद श्लोकवार्तिक के आधार पर है । ऋजुविमला में न्यायानुसार
व्याख्या हुई है कि गवय के दर्शन से, जिस व्यक्ति ने गौ का स्मरण किया है उसे यह
सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है कि दृश्यमान पशु 'गवय' है । जो भी हो, वृत्तिकार यह
दिखाना चाहते हैं कि प्रसिद्ध होने के कारण उपमान की परीक्षा भी अनावश्यक है ।]

(अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि)

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा—
जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।

अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासंनिकृष्टस्य । तस्मात्प्रसिद्ध-
त्वात् परीक्षितव्यं निमित्तम् ।

अर्थापत्ति-प्रमाण उसे कहते हैं जिसमें देखा गया या सुना गया पदार्थ किसी दूसरे
प्रकार से (अन्यथा) सिद्ध नहीं होगा इसलिए एक अर्थ की कल्पना की जाती है । जैसे—
देवदत्त जीवित है, किन्तु उसे हम घर में नहीं पाते तो यह कल्पना की जाती है कि वह

१. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ श्लोकवा० शब्द० ४ ।

बाहर होगा। उसका बाहर रहना प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं है। [जब अर्थविशेष की कल्पना के बिना किसी दृष्ट या श्रुत अर्थ की सिद्धि नहीं हो तो उस अर्थविशेष की कल्पना अर्थापत्ति (अर्थ की आपत्ति—ग्रहण) कहलाती है। दृष्ट और श्रुत के भेद के कारण इसे दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति—इन दो भेदों में विभक्त करते हैं। प्रथम भेद में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों से पदार्थ का ज्ञान होता है। जैसे ऊपर के उदाहरण में अनुपलब्धि-प्रमाण से ज्ञात हुआ है कि देवदत्त घर में नहीं है। यह बात तब तक सिद्ध नहीं होगी जब तक देवदत्त का बहिर्भाव-रूप अर्थ कल्पित न करें। श्रुतार्थापत्ति में अर्थ का ज्ञान शब्द-प्रमाण से होता है। जैसे—‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’ इस श्रुत वाक्य से यह ज्ञात होता है कि दिन में न खाने पर भी देवदत्त पीन (मोटा) है। इसकी अन्यथा अनुपपत्ति देखकर ‘रात्रि-भोजन’—रूप अर्थ की कल्पना कर ली जाती है।]

अभाव प्रमाण वहाँ होता है जहाँ उपर्युक्त पाँच प्रमाणों [के द्वारा बोध्य वस्तु] का अभाव हो (अथवा जहाँ प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो)। पुनः इन्द्रिय के सम्पर्क में जो वस्तु न आये उस वस्तु के विषय में ‘यह नहीं है’ इस प्रकार का ज्ञान देता है। [प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जब किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध न हो तब इस प्रमाण के द्वारा वस्तु के न होने का ज्ञान होता है और जिस साधन से यह ज्ञान होता है उसे अभाव या अनुपलब्धि कहते हैं। चूँकि इस प्रमाण को भी लोग जानते हैं इसलिए इसकी परीक्षा अनावश्यक है।]

इस प्रकार सभी प्रमाण तो प्रसिद्ध ही हैं, उनकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए।

(शब्द-प्रमाण-विमर्श—चित्राक्षेपवाद)

ननु प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि। शब्दस्तु न प्रमाणम्। कुतः ? ‘अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्’ (सू० ४ उत्तरार्धम्)। अनिमित्तम-प्रमाणं शब्दः। यो ह्युपलम्भनविषयो नोपलभ्यते, स नास्ति। यथा शशस्य विषाणम्। उपलम्भकानि चेन्द्रियाणि पशवादीनाम्। न च पशुकामेष्ट्यनन्तरं पशव उपलभ्यन्ते।

[पूर्वपक्षी अपनी शंका बहुत विस्तार से रखता है—] प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाण रहें तो रहें, किन्तु शब्द (वैदिक विधिवाक्य) तो प्रमाण नहीं हो सकता। क्यों ? विधिवाक्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि ‘विद्यमान पदार्थ का ही ग्रहण होता है’ (सू० ४ का उत्तरार्ध)। शब्द अर्थात् विधिवाक्य (जैसे पशुलाम के लिए किये जानेवाले चित्रा-याग से सम्बद्ध विधि—चित्रया यजेत पशुकामः) निमित्त नहीं है अर्थात् प्रमाण नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष करने योग्य विषय का प्रत्यक्ष (ग्रहण) न हो सके तो उसकी सत्ता नहीं होती, जैसे—शशविषाण (खरहे का सींग) [जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय है]। पशु आदि पदार्थों का ग्रहण इन्द्रियों से होता है, ये प्रत्यक्ष के विषय हैं। [चित्रा-याग करने के बाद पशु का लाम होना चाहिए तभी विधि की सत्यता प्रमाणित होगी किन्तु] पशु की कामना से की गयी इस इष्टि (चित्रा-याग) के अनन्तर पशुओं की प्राप्ति नहीं होती। [इसलिए प्रत्यक्षयोग्य पशुओं का प्रत्यक्ष होने से सिद्ध होता है कि चित्रा-याग करने के बाद भी पशु का अभाव (असत्ता) ही है अर्थात् चित्रा-सम्बन्धी विधि अप्रमाण है।]

अतो नेष्टिः पशुफला । कर्मकाले च फलेन भवितव्यम् । यत्कालं हि मर्दनं, तत्कालं मर्दनसुखम् । कालान्तरे फलं दास्यतीति चेन्न; न कालान्तरे फलमिष्टे- रित्यवगच्छामः । कुतः ? यदा तावदसौ विद्यमानाऽऽसीत्तदा फलं न दत्तवती । यदा फलमुत्पद्यते तदासौ नास्ति । असती कथं दास्यति । प्रत्यक्षं च फलकारण- मन्यदुपलभामहे । न च दृष्टे कारणे सत्यदृष्टं कल्पयितुं शक्यते । प्रमाणाभावात् । एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे ।

अतः इस याग से पशु-रूप फल नहीं मिलता [जिससे वैदिक विधियों की निष्फलता तथा अप्रामाणिकता सिद्ध होती है ।] कोई फल सम्बद्ध कर्म के अनुष्ठान के काल में ही मिल जाना चाहिए । उदाहरण के लिए जिस समय [शरीर में तैल का] मर्दन होता है, मर्दन से प्राप्त सुख उसी समय मिलता है ।

यदि कोई (उत्तरपक्षी) कहे कि दूसरे समय में (बाद में) फल देगा तो हम कहेंगे कि नहीं । दूसरे समय में मिलनेवाला फल उस यज्ञ का ही होगा—ऐसा हम नहीं समझते । क्यों ? कारण यह है कि जब तक वह इष्टि (चित्रेष्टि) विद्यमान थी तब उसने फल नहीं दिया और जब फल उत्पन्न होने लगा तब वह इष्टि विद्यमान नहीं रही । अब प्रश्न है कि वर्तमान न रहने पर (अ-सती) वह इष्टि फल कैसे देगी ?

इसके अतिरिक्त हम प्रत्यक्षतः [पशुप्राप्ति-रूप] फल का कुछ दूसरा ही कारण पाते हैं (जैसे दान, क्रय इत्यादि) । जब किसी घटना का दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारण मिल ही रहा है तब किसी अदृष्ट या दूरवर्ती कारण की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता । इस प्रकार इस एक दृष्टान्त में वेद-विधि को निष्फल (अपचार सहित) देखने से स्वर्गादि फल भी [वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान से] प्राप्त नहीं होते—ऐसा हम समझते हैं ।

दृष्टविरुद्धमपि भवति किञ्चिद्वचनम् । पात्रचयनं विधायामह—‘स एष यज्ञायुधो यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति’ इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति ।

न च तत्स्वर्गं लोकं यातीति । प्रत्यक्षं हि तद्दृश्यते । न चैव यातीति विधि-शब्दः । एवंजातीयकं प्रमाणविरुद्धं वचनमप्रमाणम् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्त इति यथा । तत्सामान्यादग्निहोत्रादि चोदनास्त्वप्यनाश्वासः । तस्मान्न चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।

इसके अतिरिक्त कुछ वैदिक वाक्यों को हम प्रत्यक्षगम्य पदार्थों के विरुद्ध भी पाते हैं । उदाहरण के लिए [आहिताग्नि व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके अन्त्य कर्म के प्रसंग में ‘दक्षिण हस्ते जुहुमासादयति’ इस विधिवाक्य से यज्ञ] पात्र के चयन (शरीर में स्थापन) का विधान करके अर्थवाद में कहा गया है—‘इस प्रकार यजमान यज्ञ-सम्बन्धी आयुध (पात्र) से सज्जित होकर शीघ्र ही स्वर्गलोक जाता है ।’ [स्वर्ग जाने की बात शरीर से भिन्न आत्मा के लिए कही गयी हो सकती है, इस आशंका से बचने के लिए भाष्यकार पूर्वपक्षी की ओर से कहते हैं—] यहाँ अर्थवाद प्रत्यक्षतः शरीर का ही निर्देश करता है कि स्वर्ग जाता है (स्वर्गं याति) ।

किन्तु हम पाते हैं कि वह शरीर तो स्वर्गलोक नहीं जाता, वह तो प्रत्यक्ष रूप से जल जाता है। [ऐसी स्थिति में आप यह कह सकते हैं कि 'स्वर्ग याति' में याति-क्रिया विधि है जिससे अर्थ होगा—स्वर्ग जाना चाहिए और तब कोई प्रत्यक्ष-विरोध नहीं हो सकेगा। इस आशंका का परिहार किया जाता है—] यहाँ 'याति' विधि-शब्द भी नहीं [अपितु यह स्पष्ट निर्देश करता कि शरीर स्वर्ग जाता है—किन्तु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है।]

इस प्रकार के वैदिक वचन प्रमाण-विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक या असत्य हैं, जैसे ये वाक्य असत्य हैं—सूखी तुम्बी (कंदू का फल) जल में डूब जाती है, पापाण को अविश्वास हो जाता है (अनाश्वासः)। इसलिए पूर्वपक्षी अपने आक्षेप का निष्कर्ष निकालता है कि वेद से लक्षित, परम कल्याणकारक पदार्थ को जो धर्म कहते हैं, ऐसी बात नहीं है।

‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानम्’। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः।

तस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य। तथा च चोदनालक्षणः सम्यक्संप्रत्यय इति। पौरुषेये हि शब्दे यः प्रत्ययस्तस्य मिथ्याभाव आशङ्क्येत परप्रत्ययो हि तदा स्यात्।

उत्तर—इस आक्षेप का उत्तर पञ्चम सूत्र के पूर्वांश में है—‘शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है, वह औत्पत्तिक (स्वाभाविक) है; वही उस (धर्म) के ज्ञान का साधन है।’ इस अंश में ‘तु’ शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है। शब्द का अर्थ के साथ अपौरुषेय सम्बन्ध है (किसी मनुष्य के द्वारा स्थापित नहीं है)।

तस्य ज्ञानम् (उसके ज्ञान का साधन) = अग्निहोत्रादि के द्वारा लक्षित पदार्थ (धर्म) के, जो प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से भी बोध्य नहीं है, ज्ञान का साधन वही सम्बन्ध है। [यदि शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध किसी दूसरे प्रमाण पर आश्रित होता, तो किसी भी दूसरे साधन से ज्ञान न होनेवाले पदार्थों का बोधक शब्द प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता था। किन्तु जब यह सम्बन्ध स्वतः प्रमाण हो जाता है तो वेद के शब्दों का प्रामाण्य सुनिश्चित होता है। (बृहती तथा ऋजुविमला)।]

इस प्रकार वेद-विधि से लक्षित ज्ञान (संप्रत्यय) विलकुल ठीक (यथार्थ) है। पुरुष-प्रणीत शब्द रहने पर उससे जो ज्ञान होता है उसके मिथ्या होने की आशंका हो सकती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में वह ज्ञान अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे साधन पर निर्भर करेगा (जैसे उन साधनों को दूसरे पर निर्भर करना पड़ता है जिनसे पुरुष अपने प्रकाश्य ज्ञान को पाता है)।

अथ शब्दे बुधति कथं मिथ्येति? न हि तदानीमन्यतः पुरुषादवगति-मिच्छामः। ब्रवीतीत्युच्यते बोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीति। शब्दे च निमित्ते स्वयं बुध्यते। कथं विप्रलब्धं ब्रूयात्तदेवमिति? न चास्य चोदना स्याद्वा न वेति सांशयिकं प्रत्ययमुत्पादयति।

दूसरी ओर जब कोई [अपौरुषेय स्वतः-प्रमाण] शब्द किसी वस्तु का निर्देश करता हो, तब वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? उस समय किसी दूसरे पुरुष से उसके प्रमाणित किये जाने की हमें बिल्कुल आवश्यकता नहीं पड़ती । शब्द निर्देश करता है (ब्रवीति)— इसका अर्थ होता है कि वह बोध कराता है, किसी के द्वारा उस वस्तु के समझे जाने का निमित्त बनता है । फलस्वरूप जब कहीं निमित्त के रूप में शब्द विद्यमान हो, तब इसके द्वारा निर्दिष्ट होनेवाला पदार्थ स्वयं ही (बिना किसी बाहरी सहायता के) ज्ञात हो जाता है । ऐसी स्थिति में, कोई व्यक्ति इसे (शब्द को) मिथ्या (विप्रलब्ध) कैसे कह सकता है कि शब्द-प्रमाण (वेद) से निर्दिष्ट जो पदार्थ है वह ऐसा नहीं है ?

वास्तव में, किसी वस्तु से सम्बद्ध वैदिक विधि यह संशययुक्त ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं करती कि अमुक वस्तु है कि नहीं ।

न च मिथ्यैतदिति कालान्तरे देशान्तरेऽवस्थान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनरव्यप-
देश्यप्रत्ययो भवति । योऽप्यस्य प्रत्ययविपर्ययसं दृष्ट्वात्रापि विपर्ययसिध्यतीत्यानु-
मानिकः प्रत्यय उत्पद्यते सोऽप्यनेन प्रत्यक्षेण प्रत्ययेन विरुध्यमानो वाच्यते । तस्मा-
च्चोदनालक्षण एव धर्मः ।

किसी दूसरे काल, देश या अवस्था में या किसी भिन्न पुरुष के लिए [शब्द-निर्देश्य पदार्थ के विषय में] ऐसा विपर्यय-ज्ञान नहीं होता कि यह मिथ्या है [अपितु सभी देश काल, अवस्था तथा पुरुष के लिए एक ही प्रकार का ज्ञान होता है] ।

[पूर्वपक्षी की आशंका थी कि वचन होने के कारण लौकिक वचन के समान वेदवचन भी मिथ्या होगा । इसका परिहार किया जाता है—] कुछ लोग ज्ञान का विपर्यय (अयथार्थता) देखकर अनुमान कर लेते हैं कि यहाँ वैदिक वाक्य का भी विपर्यय होगा—यह केवल आनुमानिक ज्ञान है जो उपर्युक्त प्रत्यक्ष-सिद्ध वैदिक ज्ञान से खंडित हो जायगा । इसलिए सिद्ध हुआ कि धर्म वेदवाक्य (विधि) के ही द्वारा लक्षित होता है ।

(शब्दार्थसम्बन्ध—शंका-समाधान)

स्यादेतदेवम् । नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । कुतोऽस्य पौरुषेयताऽपौरुषेयता वेति ? कथम् ? स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्, यदि संश्लेषलक्षणं संबन्धमभिप्रेत्योच्यते । कार्यकारण-निमित्तनैमित्ति-
काश्रयाश्रयिभावादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति ।

पूर्वपक्षी—ये सारी बातें हो सकती हैं । किन्तु शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । जब यही नहीं, तब उसके पौरुषेय होने या अपौरुषेय होने का प्रश्न कहाँ उठता है ? यह बात कैसे कहते हैं ? यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता तो क्षुर (छुरा) तथा मोदक (मिठाई) शब्दों का उच्चारण होते ही मुख क्रमशः कट जाता और भर जाता, यदि हम संयोग के रूप में उक्त शब्दार्थ-सम्बन्ध को मानें । [क्षुर शब्द का यदि अपने अर्थ से संयोग-सम्बन्ध हो तो उच्चारण के स्थान पर, मुख में, छुरा उपस्थित रहना चाहिए, उसका कार्य तो कम-से-कम अवश्य ही होना चाहिए कि मुख कट जाये । किन्तु कार्य की अनुपलब्धि से अर्थ का भी अभाव है—ऐसा मानना होगा । अतः शब्द और अर्थ के बीच संयोग-सम्बन्ध तो नहीं ही है ।]

जहाँ तक कार्य-कारण-भाव, निमित्तनैमित्तिक-भाव, आश्रयाश्रयि-भाव इत्यादि सम्बन्धों की बात है, ये शब्द के विषय में असिद्ध होते हैं। [शब्द और अर्थ दोनों को नित्य स्वीकार करने के कारण इनके बीच कार्य-कारण या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। शब्द का आश्रय आकाश है, अर्थ का पृथिवी आदि। इसलिए भिन्नाश्रय होने के कारण इनके बीच आश्रयाश्रयिभाव भी नहीं है। अन्ततः संयोग-सम्बन्ध ही शेष रहता है, उसकी अनुपपत्ति हम देख ही चुके हैं। अतः शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है]।

उच्यते । यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान् प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च, यः संज्ञासंज्ञिलक्षण इति ।

आह यदि प्रत्यायकः शब्दः, प्रथमश्रुतः किं न प्रत्याययति ?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—आपने बहुत से अनपेक्षित सम्बन्ध-प्रकारों की तो गिनती करा दी किन्तु जो इस स्थल के लिए निर्दिष्ट करने योग्य (व्यपदेश्य) विशेष प्रकार का सम्बन्ध है उसका निर्देश क्यों नहीं करते हैं ? वह है वाच्य-बोधक का सम्बन्ध जिसे संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध भी कहते हैं। [संज्ञा=नाम, घट-पटादि; संज्ञी=इन नामों से बोध्य पदार्थ]। इसे सरल भाषा में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध भी कहते हैं जिसका दूसरा शास्त्रीय नाम 'शक्ति' भी है। यह शब्द तथा अर्थ में अनिवार्य रूप से रहती है]।

पूर्वपक्षी पूछता है कि यदि बोधक शब्द किसी पदार्थ का बोध कराता है, तब प्रथम बार सुने जाने पर ही पदार्थ-बोध क्यों नहीं कराता ? [शंकाकार का आशय यह है कि वाच्यवाचक-सम्बन्ध से स्थित शब्दार्थ में स्थिरता होनी चाहिए—यदि गोशब्द गोत्व की वाचक शक्ति से युक्त है तो शक्तिमान् होने के कारण सदा बोध कराना चाहिए, प्रथम बार श्रुत होने पर भी। किन्तु हम ऐसा नहीं पाते इसलिए उस प्रकार की शक्ति से युक्त नहीं।]

उच्यते । सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाणम् । प्रत्यायक इति हि प्रत्ययं दृष्ट्वाव-गच्छामः, न प्रथमश्रुत इति प्रथमश्रवणे प्रत्ययमदृष्ट्वा । यावत्कृत्वः श्रुतेनेयं संज्ञाऽयं संज्ञीत्यवधारितं भवति, तावत्कृत्वः श्रुतावर्थावगम इति । यथा चक्षुर्दृष्ट्वाहचेन प्रकाशेन विना प्रकाशयतीत्यदृष्टं न भवति ।

इसका उत्तर दिया जाता है—सभी दृष्टान्तों या स्थितियों की व्याख्या में अनुभव (दर्शन, व्यवहार) हमारे लिए प्रमाण है। कोई शब्द प्रत्यायक (वाचक, बोधक) है, इसका ज्ञान हम उससे होनेवाली प्रतीति देखकर ही करते हैं, उसके विना नहीं। प्रथम बार श्रुत शब्द इसलिए प्रत्यायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रथम श्रवण के समय कोई प्रतीति होती दिखाई नहीं पड़ती। जितनी बार शब्द के सुनने से यह निश्चय हो जाये कि यह शब्द संज्ञा है और यह अर्थ उसका संज्ञी (बोध्य)—उतनी बार सुनने के अनन्तर ही शब्द से अर्थबोध होने लगता है। [पुनः-पुनः अनुभव किये जाने की जो अनिवार्यता है उससे शब्द की वाचकता की कोई क्षति नहीं होती, शब्द तो सदा ही वाचक है।] चक्षुरिन्द्रिय दर्शक (दृष्टिशक्ति से युक्त) है और विना प्रकाश के किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकती; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसमें दृष्टिशक्ति नहीं। [ठीक उसी प्रकार शब्द किसी विशेष परिस्थिति में यदि अर्थबोध नहीं करा पा सकता हो तो]

(शब्दार्थ-सम्बन्ध का कृतक होना)

यदि प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति कृतकस्तर्हि शब्दस्यार्थेन संबन्धः कुतः ? स्वभावतो ह्यसंबन्धावेतौ शब्दार्थौ । मुखे हि शब्दमुपलभामहे, भूमावर्थम् । शब्दोऽयं न त्वर्थः, अर्थोऽयं न शब्द इति च व्यपदिशन्ति । रूपभेदोऽपि भवति । गौरितीमं शब्दमुच्चारयन्ति सास्नादिमन्तमर्थमवबुध्यन्त इति । पृथग्भूतयोश्च यः सम्बन्धः स कृतको वृष्टः, यथा रज्जुघटयोरिति ।

पूर्वपक्षी कहता है कि यदि पहली बार सुना हुआ शब्द अर्थ का बोध नहीं कराता है तो शब्द का अर्थ के साथ विद्यमान सम्बन्ध कृतक (उत्पन्न, अनित्य) है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि (१) ये दोनों शब्द तथा अर्थ स्वभाव से ही सम्बन्धहीन हैं, हम मुख में शब्द की उपलब्धि करते हैं और पृथ्वी में उसके अर्थ की । (२) मनुष्यों में यह व्यवहार देखा जाता है कि यह शब्द है, अर्थ नहीं है; यह अर्थ है, शब्द नहीं । (३) इन दोनों में रूप (आकार) का भी भेद है जैसे 'गौः' इन शब्द का लोग उच्चारण करते हैं जब कि सास्ना (गले में लटकनेवाला मांस-खण्ड) आदि से युक्त पिण्ड-रूप अर्थ का बोध करते हैं । उच्चार्यमाण और बुध्यमान में अन्तर होगा ही ।]

इस प्रकार, दो पृथक् रहनेवाले पदार्थों का जो सम्बन्ध है वह कृतक होता है जैसे रस्सी और घड़े का सम्बन्ध । [यह उत्पन्न तथा नष्ट भी होता है । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृतक ही है ।]

विशेष—इस पूर्वपक्ष का उपसंहार आगे जाकर होगा—'तस्मान्मन्यामहे केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह संबन्धं कृत्वा संव्यवहत वेदाः प्रणीताः ।' इसके बाद उत्तरपक्ष आरम्भ होगा । किन्तु इस बीच में तीन आनुपंगिक प्रश्नों का भी विचार भाव्यकार कर लेना चाहते हैं । वे हैं—

(१) शब्द का स्वरूप—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' . . . 'तस्मादक्षराण्येव पदम्' ।

(२) अर्थ का स्वरूप—'अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः' यथा चाकृतिः शब्दार्थस्तथोपरिष्टान्निपुणतरमुपपादयिष्यामः ।

(३) सम्बन्ध का स्वरूप—इसके बाद की दो पंक्तियों में । इन प्रश्नों का विवेचन करने के बाद ही पूर्वपक्ष समाप्त होगा ।

(शब्द का स्वरूप—स्फोटवाद का खंडन)

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः । श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थं लोके 'शब्द'-शब्दः प्रसिद्धः । ते च श्रोत्रग्रहणाः । यद्येवम्, अर्थ-प्रत्ययो नोपपद्यते । कथम् ? एकैकाक्षरविज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते । न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम । यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् ।

यदा गकारो, न तदौकारविसर्जनीयो । यदौकारविसर्जनीयो, न तदा गकारः । अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् ।

'गौः' इसमें कौन-सी वस्तु है जिस शब्द कहते हैं ? भगवान् उपवर्ष ने कहा है कि गकार, औकार तथा विसर्ग—ये तीनों ही शब्द हैं । कारण यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय से जिस

पदार्थ का ग्रहण होता है उसी के लिए संसार में 'शब्द' यह शब्द प्रसिद्ध है। उपर्युक्त तीनों अक्षर श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य हैं (इसलिए वे शब्द हैं)।

इस स्थापना पर स्फोटवादी वैयाकरणों का आक्षेप होता है—यदि ऐसी बात हो (अक्षर ही शब्द कहलायें), तो अर्थबोध की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। कैसे? एक-एक अक्षर को पृथक्-पृथक् सुनने से तो अर्थ का बोध नहीं होता। इन अक्षरों से भिन्न कोई समुदाय (एकात्मक सत्ता) तो है नहीं कि जिससे अर्थ का ज्ञान हो सके।

[आप लोग कह सकते हैं कि गकारादि अक्षरों में पार्थक्य कहाँ, वे तो परस्पर संबद्ध हैं। इसका परिहार करते हुए स्फोटवादी पुनः कहते हैं—] जब गकार की सत्ता है (गकार सुना आता है), तब औकार और विसर्ग नहीं; जब औकार और विसर्ग सुनाई पड़ते हैं, तब गकार नहीं। [इसलिए इनमें कालगत भेद तो है ही।] इससे निष्कर्ष निकलता है कि [अर्थबोध की सिद्धि के लिए] गकारादि अक्षरों से भिन्न [स्फोट-रूप] गो-शब्द है जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। [गकारादि वर्णों से स्फोटात्मक शब्द अभिव्यंग्य है, उसी से अर्थ की प्रतीति होती है—स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मात्।]

अन्तर्हिते शब्दे स्मरणादर्थप्रतिपत्तिश्चेन्न। स्मृतेरपि क्षणिकत्वादक्षरेऽस्तुल्यता।

पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोषः।

यह कहा जा सकता है कि शब्द (अक्षरों) के अन्तर्हित या समाप्त हो जाने के बाद उनका स्मरण रहेगा और स्मरण से ही अर्थ का ज्ञान होगा तो स्फोटवादी तुरत कहेंगे कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। स्मृति भी तो क्षणिक ही होती है और इसलिए जिस प्रकार अक्षरों में अर्थबोध की क्षमता नहीं है, उसी प्रकार स्मृति में भी यह क्षमता नहीं होगी।

स्फोटवादियों के इस आक्षेप का उत्तर हम इस प्रकार देंगे—इनके आक्षेप में कुछ भी सार नहीं है। प्रत्येक वर्ण उच्चरित होने के बाद अपना संस्कार छोड़ जाता है और समस्त पूर्ववर्ती वर्णों से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण अर्थ का बोधक होता है—ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

नन्वेवम्, 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति लौकिकं वचनमनुपपन्नं स्यात्। उच्यते। यदि नोपपद्यतेऽनुपपन्नं नाम। न हि 'लौकिकं वचनमनुपपन्नम्' इत्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्नोत्युपगन्तुम्। लौकिकानि वचनान्युपपन्नान्यर्थान्यनुपपन्नार्थानि च दृश्यन्ते। यथा—'देवदत्त, गामभ्याज' इत्येवमादीनि, 'दश वाडिमानि, षड्रूप' इत्येवमादीनि च।

स्फोटवादी पुनः शंका करता है—यदि पूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण अर्थबोधक होता, तो 'हम शब्द से अर्थ की प्रतीति करते हैं'—ऐसा जो सामान्य लोगों का कथन होता है वह असिद्ध हो जाता। [अर्थ केवल अन्तिम वर्ण से नहीं, पूरे शब्द से निकलता कहा जाता है।]

इसपर हमारा यह उत्तर होगा कि यदि लौकिक कथन सिद्ध नहीं होता है तो वह असिद्ध ही होगा। 'लौकिक कथन या व्यवहार असिद्ध हो जायगा'—केवल इस बात से ही वैसे पदार्थ की स्वीकार नहीं कर लिया जा सकता जो प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से ज्ञात न होनेवाला हो [अर्थात् स्फोटवादी अप्रामाणिक पदार्थ स्फोट को स्वीकार करते हैं]।

लौकिक वचन तो दोनों प्रकार के होते हैं—वे सिद्ध अर्थवाले (सत्य, सम्बद्धार्थ) भी होते हैं, असिद्ध या असंगत अर्थवाले भी होते हैं। जैसे—‘देवदत्त, गाय को हाँककर ले चलो’ इस प्रकार के कथन संगत अर्थवाले होते हैं; ‘दस अनार, छह पुण’ इत्यादि वचन असंगत अर्थवाले हैं [जो निरर्थक तथा किसी भी व्यवहार की सिद्धि न करनेवाले हैं]।

ननु च शास्त्रकारा अप्येवमाहुः—‘पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्’ (निरुक्त १।१) इति । न शास्त्रकारवचनमप्य-लभिममथमप्रमाणकमुपपादयितुम् । अपि च नैवेतदनुपपन्नार्थम् । अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिरिति संभवत्यर्थप्रतिपत्तावक्षराणि निमित्तम् ।

[पूर्वपक्षी (स्फोटवादी) पुनः कहता है कि केवल लोक व्यवहार से ही सिद्धान्तवादी के विचारों का खण्डन नहीं होता, अपितु] शास्त्रकार भी इसी प्रकार की वान कहते हैं। जैसे निरुक्तकार यास्क ‘आख्यात’ का लक्षण करते हुए कहते हैं—‘पूर्वापर के क्रम से होने वाली क्रिया आख्यात कही जाती है जैसे—व्रजति, पचति इत्यादि, जिसमें आरम्भ से लेकर फल-प्राप्ति-पर्यन्त [पाद-संचालनादि] अनेक अवान्तर व्यापारों का [समुदायात्मक एक-रूप] व्यापार है ।’ (निरुक्त १।१) [यह भी यही संकेत करता है कि जिस प्रकार अनेक छोटी क्रियाओं के क्रमबद्ध प्रवर्तन से एकात्मक क्रिया होती है उसी प्रकार शब्द भी अक्षरों से भिन्न एक समुदाय-रूप पदार्थ है ।]

इसका उत्तर होगा कि शास्त्रकारों का वचन भी इस अप्रामाणिक विषय को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त, हमारे विचार में किसी प्रकार अर्थ की असंगति नहीं है। हमारा यही विचार तो है—अक्षरों से संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कार से अर्थ का बोध होता है; इस प्रकार अर्थ के बोध (प्रतिपत्ति) में अक्षर कारण हो जाते हैं।

गौण एवार्थप्रतिपत्तौ शब्द इति चेत् । न गौणोऽक्षरेषु निमित्तभावः । तद्भावे भावात्, तद्भावे चाभावात् । अथापि गौणः स्यात् । न ‘गौणः शब्दो मा भूत्’ इति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुम् । न ह्यग्निर्माणवक इत्युक्तेऽग्निशब्दो गौणो मा भूदिति ‘ज्वलन एव माणवकः’ इत्यध्यवसीयते ।

अब यदि पूर्वपक्षी कहे कि अर्थबोध के लिए शब्द एक गौण कारण के रूप में रहेगा—तो हम उत्तर देंगे कि नहीं, अर्थबोध के लिए अक्षर (या शब्द) गौण कारण के रूप में कभी नहीं होते [क्योंकि अन्वय व्यतिरेक से अक्षरों तथा अर्थबोध में कार्यकारणभाव सिद्ध होता है कि] । अक्षरों के रहने पर अर्थबोध होता है और अक्षरों के नहीं रहने पर अर्थ-बोध भी नहीं होता । (इससे अक्षर अर्थबोध के प्रधान कारण सिद्ध होते हैं, गौण कारण नहीं ।)

किन्तु यदि शब्द को अर्थबोध का गौण कारण भी रखना पड़े [तो कोई हानि नहीं है] । ‘शब्द अर्थबोध का गौण कारण नहीं बने’ इस एक बात की रक्षा के लिए, प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से ज्ञात न हो सकनेवाले (= अप्रामाणिक, असत्य) पदार्थ को कल्पना आप नहीं कर सकते । [अक्षरों से भिन्न स्फोटरूप शब्द अप्रामाणिक हैं—यह सिद्धान्ती कहता है ।] उदाहरण के लिए, जब कोई कहता है कि यह बालक अग्नि है, तब अग्नि-शब्द का गौण होने से बचाने के लिए (कहीं ‘अग्नि’ शब्द का गौण प्रयोग न हो जाये—इसे रोकने

के लिए) आप यह निश्चय नहीं कर लेते कि बालक सचमुच आग है। [‘अग्निर्माणवकः’ गौण प्रयोग है, जिसका अर्थ है कि यह बालक अग्नि के समान तेजस्वी है। यदि गौण प्रयोग नहीं मानेंगे तो इस वाक्य में अर्थ की असंगति होगी। कोई यह नहीं कहता कि अर्थ की असंगति हो तो हो, हम गौण प्रयोग नहीं मानते। उसी प्रकार कोई यह भी कहना नहीं चाहेगा कि अप्रामाणिक या असत्य बात सिद्ध हो जाय तो हो जाय, हम अर्थ-बोध का गौण कारण शब्द को नहीं होने देंगे।]

न च प्रत्यक्षो गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्द इति भेददर्शनाभावाद्भेददर्शनाच्च । गकारादीनि हि प्रत्यक्षाणि । तस्माद् गौरिति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदमक्षराण्येव । अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यत्पदं नामेति ।

ननु संस्कारकल्पनायामप्यदृष्टकल्पना । उच्यते—शब्दकल्पनायां सा च, शब्दकल्पना च । तस्मादक्षराण्येव पदम् ।

सिद्धान्ती इसके वाद कहता है कि गकारादि अक्षरों से ‘गो’ शब्द भिन्न है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता (=स्पष्टतः दोनों एक हैं)। इस विषय में यह तथ्य है कि इन दोनों (अक्षरों तथा शब्द) के बीच भेद दिखलाई नहीं पड़ता, साथ ही ये दोनों अभिन्न दिखलाई पड़ते हैं। जिस चीज का हम वास्तव में प्रत्यक्ष करते हैं वह तो गकारादि अक्षर ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ‘गोः’ इस शब्द में गकार से आरम्भ करके विसर्ग तक (ग्+ओ+विसर्ग) जो ‘पद’ की संज्ञा दी जाती है वह वस्तुतः अक्षर ही है। इसलिए उन अक्षरों से भिन्न पद (शब्द) नामक कोई वस्तु नहीं है।

पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि [जैसे स्फोटवाद में स्फोट को अर्थबोध का कारण स्वीकार करने के लिए अदृष्ट पदार्थ (स्फोट) को स्वीकार करना पड़ता है उसी प्रकार आपके मत में तत्तत् वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार को, उन-उन वर्णों के स्मरण का हेतु स्वीकार करके, अर्थबोध-रूप दूसरे कार्य को उत्पन्न करने के लिए, किसी प्रकार की सामर्थ्य उस संस्कार में माननी होगी;] इस प्रकार संस्कार की कल्पना करने पर तो आपको भी अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करनी होगी।

इसका उत्तर यह है—आप (स्फोटवादियों) को अक्षर-भिन्न शब्द की कल्पना करनी पड़ती है इसलिए दो पृथक् कल्पनाएँ होती हैं—शब्द की कल्पना और संस्कार की कल्पना। [किन्तु हम लोगों को अर्थ-बोधक के लिए एकमात्र संस्कार की ही कल्पना करनी होती है। हम अक्षरों को ही शब्द मानते हैं, इसलिए शब्द की पृथक् कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। संस्कार तो मानना ही है—हमें भी, स्फोटवादियों को भी। फलस्वरूप स्फोटवादियों को दो कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं, मीमांसकों को केवल एक।]

इस से निष्कर्ष है निकलता है कि अक्षर ही पद या शब्द हैं।

(अर्थ का स्वरूप—आकृतिवाद)

अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः ? सास्नादिविशिष्टाकृतिरिति ब्रूमः । नन्वाकृतिः साध्यास्ति वा न वेति । न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति । रुचकः स्वस्तिको वर्धमानक इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते ।

व्यामोह इति चेन्न नासति प्रत्ययविपर्ययसि व्यामोह इति शक्यते वक्तुम् ।

अब दूसरा प्रश्न है कि 'गौः' इस शब्द का अर्थ क्या है ? हमारा कथन है कि सास्ना (गलकम्बल) आदि अंगों से विशिष्ट आकृति^१ (जाति) ही शब्दार्थ है । [न्यायसूत्र में गौतम ने आकृति का प्रयोग आकार या रूप के अर्थ में किया है जो किसी जाति का साधारण धर्म है । किन्तु मीमांसा में आकृति का अर्थ जाति ही है, जिससे व्यक्ति लक्षित होता है (आक्रियते=निरूप्यते) । कुमारिल तथा मंडन दोनों इसका समर्थन करते हैं ।]

पूर्वपक्षी शंका करते हुए पूछता है कि यह जाति किसी क्रिया के द्वारा निष्पन्न करने योग्य (साध्य) है कि नहीं ? [पूर्वपक्षी के प्रश्न का प्रयोजन यह है कि यदि यह जाति साध्य है तो शब्द के साथ इसका सम्बन्ध नित्य नहीं हो सकता ।] उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष होने के कारण जाति कभी भी साध्य नहीं हो सकती । जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है वे वस्तुतः सिद्ध होते हैं (साध्य नहीं), जैसे—रुचक (गले का हार), स्वस्तिक^२ (चौराहा), वर्धमानक^३ (थाली) इत्यादि ।

यह शंका हो सकती है कि जातिविषयक यह जो प्रत्यक्ष हो रहा है वह भ्रम हो । हम कहेंगे कि नहीं, जब तक कोई परवर्ती ज्ञान उसे बाधित नहीं करता, उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता ।

असत्यप्यर्थान्तर एवं जातीयके भवति प्रत्ययः—पङ्क्तिः, यूथं, वनमिति यथेति चेत् । न । असम्बद्धमिदं वचनमुपन्यस्तम् । किमसति वने वनप्रत्ययो भवतीति प्रत्यक्षमेवाक्षिप्यते ? वृक्षा अपि न सन्तीति । यद्येवं, प्रत्युक्तः स माहायानिकः पक्षः ।

पूर्वपक्षो—व्यक्तियों से भिन्न किसी दूसरे ऐसे पदार्थ (जाति) की सत्ता न होने पर भी लोगों को ऐसे विषयों का ज्ञान होता ही है जैसे—पंक्ति, यूथ (छुण्ड), वन इत्यादि । [पंक्ति अपने अंतर्गत आनेवाले व्यक्तियों से भिन्न नहीं है, यूथ में भी यही बात है । वन वृक्षों से भिन्न कुछ नहीं है । इसी प्रकार जाति भी व्यक्तियों से पृथक् नहीं है, वह एक भ्रम है ।]

उत्तर—नहीं, आपने यह अत्यन्त ही असंबद्ध बात कही है । यह कहते हुए कि 'वन की सत्ता न रहने पर भी वन का ज्ञान होता है' आप प्रत्यक्ष पर ही तो आक्षेप नहीं कर रहे हैं ? [प्रत्यक्ष से हम लोगों को वन का ज्ञान होता है कि वन वस्तुतः अवस्थित है—वन की सत्ता को अस्वीकार करने का अर्थ है प्रत्यक्ष-प्रमाण को ही आप नहीं मानते ।] कहीं ऐसा न हो कि आप कहने लगे—'वृक्ष भी नहीं होते हैं' ! यदि ऐसी बात सचमुच हुई तो आप नैयायन-सम्प्रदायवाले (विज्ञानवादी) बौद्धों के पक्ष का अनुसरण कर रहे हैं (कि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं, ज्ञानमात्र ही सत्त है) । उस पक्ष का हमने ऊपर खंडन किया है । [इस प्रकार जाति-खंडन का आपका प्रयास निष्फल है ।]

अथ किमाकृतिसद्भाववाद्युपालभ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यतीति - वनेऽन्य-सति^४ वनप्रत्ययः प्राप्नोतीति । एवमपि प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तत्सिद्धान्तान्त-

१. जातिमेवाकृतिं प्रादुर्व्यक्तिराक्रियते यथा । (श्लो० वा० आकृति० ३)

२-३. उपर्युक्त शब्दों का अनुवाद डा० गंगानाथ झा के आधार पर किया गया है । प्रभा-व्याख्या में इन्हें सुवर्ण का विकारभूत आभूषण कहा गया है ।

४. पि० सति०—आनन्दाश्रम प० पाठः ।

रूपणो निग्रहस्थानमापद्यते । असाधकत्वात् । स हि वक्ष्यति—बुध्यतु, यदि बुध्यति किं तेन दुष्टेनादुष्टेन वा ? प्रकृतं न्वया साधितं भवति, सशयो वा पक्षो दूषिता भवतीति ।

[सिद्धान्तवादी अब यह दिखलाता है कि पूर्वपक्षी अपने पक्ष को तो सिद्ध नहीं ही कर सका, वह हमारे पक्ष में दोष भी नहीं दिखला सकता—] पूर्वपक्षी अब और क्या, आकृति (जाति) की सत्ता मानने वाले हम लोगों का उपाक्रम (आक्षेप) करेगा कि आपके एक दूसरे सिद्धान्त का खण्डन हो जायेगा ।

यदि आप (सिद्धान्ती) एकात्मक जाति को मानते हैं तो एकात्मक वन (जो वस्तुतः वृक्षों के अतिरिक्त कुछ नहीं है) का सत्ता न रहने पर भा वन का ज्ञान उत्पन्न होगा । [पूर्वपक्षी की शंका का यह अभिप्राय होगा—सिद्धान्ती एक सिद्धान्त तो यह मानता है कि जाति के रूपमें व्यक्तियों के समुदाय की एकात्मक सत्ता है; वह यह भी मानता है कि एकात्मक वस्तु से एकात्मक सत्ता के रूप में ही ज्ञान होगा । पूर्वपक्षी कहेगा कि वन तो एकात्मक है नहीं, वह अनेकात्मक है—अनेक वृक्षों को ही वन कहते हैं । इस अनेकात्मक वस्तु से आप एकात्मक ज्ञान (वनज्ञान) पाते हैं । यह क्या आपके दूसरे सिद्धान्त का (एकात्मक वस्तु से ही एकात्मक ज्ञान) खंडन नहीं है ? इस प्रकार पूर्वपक्षी एक सिद्धान्त के खण्डन को छोड़कर दूसरे सिद्धान्त पर आक्रमण करता है ।]

उत्तर—इस प्रकार तो पूर्वपक्षी प्रस्तुत विषय का दोष दिखाने में असमर्थ होकर उससे भिन्न सिद्धान्त में दोष दिखाने के लिए तत्पर होने के कारण 'निग्रहस्थान' (पराजय के स्थल के रूप में न्याय दर्शन निर्दिष्ट दोष) की स्थिति में पड़ जायेगा । बात यह है कि उसका यह प्रयास किसी वस्तु की सिद्धि नहीं कर पाता । इसका कारण यह है कि सिद्धान्ती तुरंत उत्तर देगा—दूसरा सिद्धान्त दूषित हो, तो होता रहे । उसके दूषित होने और न होने से क्या लाभ है ? [बहुवचन और एकवचन के नियम निरपेक्ष नहीं हैं ।] वस्तुतः लाभ की वस्तु यह है कि या तो आप अपने प्रकृत सिद्धान्त (जाति की सत्ता नहीं है, व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है) की सिद्धि करें, या हमारे पक्ष में दोष दिखायें । [आप दोनों में से एक भी नहीं करते, इसलिए परास्त हुए ।]

न च वृक्षव्यतिरिक्तं वनं ग्रस्मान्नोपलभ्यतेऽतो वनं नास्तीत्यवगम्यते । यदि वनेऽन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्यय इति । ततो वनं नास्तीत्यवगच्छामः । न च गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति । अतो वैषम्यम् । अथ वनादिषु नैव विपर्येति — न ते न सन्तीति । तस्मादसम्बद्धः पङ्क्तिवनोपन्यासः ।

अत उपपन्नं जैमिनिवचनमाकृतिः शब्दार्थ इति । यथा चाकृतिः शब्दार्थस्तथोपरिष्ठात् (मी० सू० १।३।३३) निपुणतरमुपपादयिष्याम इति ।

ऐसा प्रतीति कहीं नहीं होती कि 'चूँकि वृक्षों से भिन्न रूप में वन का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, इसलिए वन की सत्ता ही नहीं है । यह आप कह सकते हैं कि यदि वन के विषय में, किसी दूसरे कारण से, उसकी सत्ता के विपरीत कोई बाधक ज्ञान उत्पन्न हो तो निश्चित रूप से वन का ज्ञान मिथ्या हो सकता है । तभी हम सिद्ध कर सकते हैं कि वन नहीं है (अपितु वृक्ष ही सत्तावान् हैं) ।

[थोड़ी देर के लिए मान लें कि वनादि पदार्थों के विषय में बाधक-ज्ञान उत्पन्न होकर इन्हें मिथ्या सिद्ध कर देगा, किन्तु] गो-आदि पदार्थों में जो जातिविषयक ज्ञान होता है, वह कभी बाधित नहीं होता है। इसलिए गो आदि तथा वनादि में विषमता है। वनादि पदार्थों के विषय में भी यदि कोई ज्ञान बाधक के रूप में नहीं आता हो, तो हम यह कभी नहीं कह सकते हैं कि वनादि ज्ञान की सत्ता नहीं है। इसलिए पूर्वपक्षियों ने जो पंक्ति, वन, यूथ आदि शब्दों को इस विवेचन के क्रम में ला रखी है, उसकी प्रस्तुत सन्दर्भ में कोई संगति नहीं है।

इस पूरे विवेचन से सूत्रकार जैमिनि का यह कथन सिद्ध होता है कि आकृति अर्थात् जाति ही शब्दार्थ है। आकृति किस प्रकार शब्दार्थ है, इस विषय की सिद्धि हम आगे चल कर उस जैमिनि-सूत्र (१।३।३) की व्याख्या के क्रम में करेंगे।

(सम्बन्ध का स्वरूप—पूर्वपक्ष का उपसंहार)

अथ सम्बन्धः क इति ? यच्छब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते । स तु कृतक इति पूर्वमुपपादितम् ।

तस्मान्मन्यामहे—केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहृतुं वेदाः प्रणीता इति ।

अब तीसरा प्रश्न है कि शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध क्या है ? [यह प्रश्न वस्तुतः शब्दों की तथा अर्थों के साथ उनकी नित्यता का विवेचन करने के लिए लाया गया है—कुमारिल ।] इसका उत्तर है कि जिसके फलस्वरूप शब्द का ज्ञान हो जाने के बाद अर्थ का ज्ञान होता है वही सम्बन्ध है। [यह संज्ञा-संज्ञी के रूप में है, कहा जा चुका है ।]

पूर्वपक्षी—हम लोगों ने यह पहले ही (शब्दार्थ-स्वरूप पर विचार करने के पूर्व) सिद्ध कर दिया है कि यह सम्बन्ध कृतक (बनाया गया) है। इसलिए हम समझते हैं कि किसी पुरुष ने शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके, उन शब्दों का व्यवहार-प्रदर्शन करने के लिए वेदों का निर्माण किया है (अर्थात् वेद भी कृतक या अनित्य हैं)।

(शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता)

तदिदानीमुच्यते । अपौरुषेयत्वात्सम्बन्धस्य सिद्धिमिति । कथं पुनरिदमवगम्यतेऽपौरुषेय एष सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम् ।

उत्तर—इसका उत्तर दिया जाता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में हमारा जो कुछ विचार है वह इस आधार पर सिद्ध होता है कि ऐसा सम्बन्ध किसी पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं हो सकता (=सम्बन्ध अपौरुषेय है)। आप पूछेंगे कि यह कैसे ज्ञात हुआ कि ऐसा सम्बन्ध अपौरुषेय (स्वाभाविक, नित्य) है ? उत्तर यह होगा कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध स्थापित करनेवाले (सम्बन्धा) पुरुष की उपलब्धि नहीं होती (पुरुष ऐसा काम नहीं कर सकता)।

प्रश्न—आप कैसे जानते हैं कि कोई सम्बन्ध स्थापित करनेवाला पुरुष नहीं है ?

उत्तर—सम्बन्ध करने वाले पुरुष के विषय में प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञान नहीं होता और दूसरे प्रमाण तो प्रत्यक्ष पर ही आश्रित हैं [इसलिए वे भी इस विषय में असमर्थ होंगे]।

ननु चिरवृत्तत्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेद्विदानीन्तनानाम् । न हि चिरवृत्तः सप्त स्मर्येत । न च हिमवदादिषु कूपारामादिवदस्मरणं भवितुमर्हति । पुरुषविद्योगो हि तेषु भवति, देशोत्सादनेन कुलोत्सादनेन वा । न च शब्दार्थव्यवहारविद्योगः पुरुषाणामस्ति ।

प्रश्न—शब्दार्थ-सम्बन्ध की स्थापना करनेवाले पुरुष का आविर्भाव बहुत दिन पहले हुआ था (चिरवृत्तत्वात्), इसलिए वह आधुनिक काल के पुरुषों .. प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है । [वैसे सम्बन्ध करनेवाला पुरुष तो है ही ।]

उत्तर—किन्तु ऐसी बात तो नहीं है कि बहुत दिन पहले हुआ हो तो लोग उसका स्मरण भी न रखें (उसे स्मरणीय तो होना ही चाहिए था) । यहाँ आक्षेप हो सकता है कि जैसे हिमालय आदि प्रदेशों में निर्मित कूप, उद्यान आदि के निर्माताओं का जिस प्रकार स्मरण नहीं होता है उसी प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध के निर्माता का भी स्मरण लोग नहीं करते होंगे । हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं है; कूपादि के निर्माताओं का स्मरण न होने का कारण उन पुरुषों के विषय में समस्त स्मरण-चिह्नों का लोप है जो उनके या उनके देश में किसी विघ्न के कारण सम्भव है [जैसे सैन्धव-सम्भ्यता के निर्माताओं का विस्मरण] य उनके परिवार का नाश हो जाने से । जहाँ तक शब्दार्थ-सम्बन्ध की बात है, इन व्यवहार करनेवाले पुरुषों का सर्वथा नाश नहीं हो जाता ।

विशेष—हिमालयादि की स्थिति में देश या कुल के नाश से स्मृति के कारणभूत पुरुषों की परम्परा का विच्छेद हो सकता है किन्तु शब्दार्थ की स्थिति में इसका व्यवहार करनेवाले पुरुषों की परम्परा का विच्छेद सम्भव नहीं है । इसलिए निर्माता पुरुष की स्मृति के कारणों के अभाव में शब्दार्थ-सम्बन्ध को अपौरुषेय कहना ही संगत है ।

स्यादेतत् । सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तृस्मरणमनाद्विद्यमाना विस्मरेयुरिति । तन्न । यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत्, व्यवहारकालेऽवश्यं स्मर्तव्यो भवति । संप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहन्नोरर्थः सिध्यति, न विप्रतिपत्तौ । न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्यवहारतः आदेचः प्रतीयेरन् पाणिनि-कृतिमननुमन्यमानस्य वा । तथा मकारेणापिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्रिकः प्रतीयेत, पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहर्त्तारौ संप्रतिपद्येते ।

पूर्वपक्षी इस प्रकार का तर्क दे सकता है—मनुष्यों को तो शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध-मात्र का व्यवहार करना है, उन्हें शब्दार्थ-सम्बन्ध के निर्माता के स्मरण से तो कोई प्रयोजन नहीं है । इसलिए कर्ता के निष्फल स्मरण की उपेक्षा करते हुए उन्होंने भुला दिया होगा ।

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । यदि कोई पुरुष इस सम्बन्ध को उत्पन्न करने का व्यवहार चलाया होता, तो प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा व्यवहार-काल में उस पुरुष का स्मरण अवश्य हुआ करता । किसी व्यवहार की सिद्धि तभी हो सकती है जब सम्बन्ध के निर्माता और व्यवहारकर्ता के बीच सहमति हो [कि इस शब्द का यह अर्थ होता है] । उन दोनों के बीच असहमति या विरोध रहने से कोई व्यवहार नहीं चल सकता है । उदाहरण के लिए, आचार्य पाणिनि (अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र—“वृद्धिरादैच्” के द्वारा) वृद्धि-संज्ञा तथा आत्-ऐच् (आ, ऐ, औ) वर्णों के बीच सम्बन्ध के स्थापक हैं, जो व्यक्ति पाणिनि से भिन्न

है, अथवा उनकी कृति को स्वीकार नहीं करता वह वृद्धि-शब्द से उन वर्णों का बोध नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार पिंगलाचार्य 'म'-गण शब्द तथा तीन दीर्घ वर्णों के समुदाय (जैसे—'सा नारी') के बीच सम्बन्ध के निर्माता हैं; जो व्यक्ति पिंगल के अनुसार काम करनेवाला नहीं है (अ-पिंगल), या जो उनकी कृति को प्रमाण-रूप में स्वीकार नहीं करता, वह आधार से कभी भी उन वर्णों का बोध नहीं कर सकता । इस प्रकार व्यवहार के प्रवर्तक (निर्माता) और प्रयोगकर्ता में परस्पर सहमति रहती है ।

तेन वेदे व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्यात्, व्यवहारस्य च । न हि विस्मृते 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) इत्यस्य सूत्रस्य कर्तरि 'वृद्धिर्यस्याचामादिः०' (पा० सू० १।१।३२) इति किञ्चित्प्रतीयेत । तस्मात्कारणादवगच्छामो न कृत्वा संबन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति ।

इस प्रकार वेद के विषय में व्यवहार करनेवाले भी शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा व्यवहार दोनों के निर्माता का स्मरण अवश्य ही करते । 'वृद्धिरादैच्' (आ, ऐ, औ को वृद्धि कहते हैं—पाणिनि सूत्र १।१।१) इस सूत्र के निर्माता का विस्मरण हां जाने पर, किसी व्यक्ति को पाणिनि के वृद्ध-संज्ञा-विधायक सूत्र का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता है—वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्—उस शब्द को 'वृद्ध' कहते हैं जिसके स्वरवर्णों में से प्रथम वृद्धि अर्थात् आ, ऐ, औ हो (पा० सू० १।१।३२) ।

इससे हम समझते हैं कि किसी व्यक्ति ने शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध को उत्पन्न करके उनका व्यवहार दिखाने के लिए वेदों का निर्माण किया हो—यह बात नहीं है ।

यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत, तथापि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धारं प्रतिपद्येमहि । यथा विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रतिपद्यामहे । तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्ध इति ।

यद्यपि उक्त सम्बन्ध की स्थापना करनेवाले व्यक्ति के विस्मृत कर दिये जाने की संभावना हो सकती है, तथापि किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में सम्बन्धकर्ता को हम नहीं मान सकते । उदाहरणार्थ, यह बात सत्य है कि कभी-कभी विद्यमान पदार्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है अर्थात् ऐसी सम्भावना रहती है । किन्तु केवल इसी सम्भावना के आधार पर, हम बिना किसी प्रमाण के, शश-विषाण (खरदे का सींग) की सत्ता तो नहीं मानेंगे । [विद्यमान का प्रत्यक्ष न होने के आधार पर अविद्यमान को विद्यमान सिद्ध नहीं कर सकते । अप्रत्यक्षत्व तथा विद्यमानत्व में व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है कि शशविषाण को अप्रत्यक्षत्व के आधार पर विद्यमान सिद्ध कर सकते हैं । इसी प्रकार विस्मृतत्व और अस्तित्व (सम्बन्ध करनेवाले की सत्ता) में भी व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है ।] इसलिए शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अपौरुष (किसी पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं) है ।

नन्वर्थापत्त्या सम्बन्धारं प्रतिपद्येमहि । न ह्यकृतसम्बन्धाच्छब्दादर्थं प्रतिपद्यमानानुपलभामहे । प्रतिपद्येरश्चेत्प्रथमश्चवर्णेऽपि प्रतिपद्येरन् । तदनुपलम्भनादवश्यं भवितव्यं सम्बन्धेति चेत् ।

न, सिद्धवदुपदेशात् । यदि सम्बन्धुरभावान्नियोगतो नार्था उपलभ्येरस्ततो-
ऽर्थापत्त्या सम्बन्धारमवगच्छामः । अस्ति त्वन्यः प्रकारः ।

पूर्वपक्षी—[शब्दार्थ-सम्बन्ध के निर्माता के पक्ष में यह प्रमाण दिया जा सकता है कि] अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा हम सम्बन्धकर्ता का ज्ञान कर लेंगे। जिस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध ज्ञात नहीं है ऐसे शब्द से अर्थ का बोध करनेवाले व्यक्तियों को हम नहीं पाते। यदि ऐसे शब्द का अर्थबोध लोग करते, तो पहली बार शब्द का श्रवण करने पर भी अर्थबोध हुआ करता। किन्तु पहली बार शब्द-श्रवण से अर्थबोध नहीं होता है, [यह तो बाद में उत्पन्न होता है।] इससे प्रकट होता है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध का कर्ता कोई अवश्य होगा। [शंका करनेवाले का यह कथन है कि प्रथमश्रवण के समय अर्थ की प्रतीति न होना तब तक अनुपपन्न (असम्भव) है जब तक हम सम्बन्ध को कृतक न मान लें—इस प्रकार अर्थापत्ति से सम्बन्ध के कर्ता की सिद्धि होती है। सम्बन्ध को कृतक मानने से ही यह व्यवस्था हो सकती है कि संकेत (शब्दार्थ-सम्बन्ध) से अनवगत व्यक्तियों को अर्थबोध नहीं होता और उससे अवगत व्यक्ति अर्थबोध कर लेते हैं। दूसरी ओर यदि सम्बन्ध को स्वाभाविक मानें तो प्रथम श्रवण में भी अर्थ का बोध हो सकता है। अग्नि और उष्णत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध है तो प्रथम स्पर्श में ही उष्णत्व बोध होता है। इसलिए शब्दार्थ-सम्बन्ध कृतक है।]

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं। शब्दों का उपदेश सिद्ध पदार्थों के समान होता है [कि उनमें अर्थों का बोध कराने की शक्ति निहित है—बृहती]। यदि यह बात सच होती कि सम्बन्ध करानेवाले व्यक्ति के अभाव में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, तभी अर्थापत्ति-प्रमाण से सम्बन्ध-कर्ता की सत्ता का निष्कर्ष निकल सकता था। किन्तु वास्तव में शब्द से अर्थबोध का एक दूसरा उपाय है [जिसे व्यवहार कहते हैं। सम्बन्ध के स्वाभाविक या अपौरुपेय रहने पर भी उक्त अर्थबोध की सिद्धि प्रकारान्तर से हो सकती है।]

वृद्धानां स्वार्थेन संव्यवहरमाणानामुपभृष्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसंस्तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यः, तेऽप्यन्येभ्य इति नास्यादिरित्येवं वा भवेत्। अथवा, न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध आसीत्। अथ केनचित्सम्बन्धाः प्रवर्तिता इति। अथ वृद्धव्यवहारे सति नार्था-दापद्येत सम्बन्धस्य कर्ता।

[शब्दार्थ-सम्बन्ध तो अपौरुपेय है; उसे जानने का अन्य उपाय वृद्धव्यवहार है। इसका उदाहरण सिद्धान्तवादी देता है—] अपने उद्देश्यविशेष से शब्दों का प्रयोग करने वाले वृद्ध लोग जब कुछ बोलते हैं तो उनके शब्दों को सुनकर बालक (= उनसे कम आयु वाले) लोग प्रत्यक्षतः किसी अर्थ का बोध करते हैं, ऐसा हम अपने दैनिक व्यवहार में देखते हैं। ये शब्द-प्रयोक्ता वृद्ध भी जब स्वयं बालक थे, तब उन्होंने दूसरे वृद्धों से सुने हुए शब्दों का अर्थ-ग्रहण किया था; उन्होंने भी अपने पूर्वजों से—इस प्रकार यह प्रक्रिया बिना किसी आरम्भ-काल के चलती रहो है। [यह वृद्ध-व्यवहार की अनादि परम्परा शब्द के प्रयोग तथा अर्थग्रहण के तत्त्व की एक सम्भव व्याख्या है। एक दूसरी व्याख्या जो पूर्वपक्षी देता है, इस प्रकार है—] आरम्भिक काल में शब्द का अर्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं था; किसी व्यक्ति ने विभिन्न शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध उत्पन्न किया तथा उन्हें प्रवृत्त किया।

अब इन दो व्याख्याओं में से जब तक वृद्धव्यवहारवाली व्याख्या वर्तमान है [और इसे हम अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्षतः पाते हैं], तब तक हम सम्बन्ध को उत्पन्न करनेवाले किसी व्यक्ति को अर्थापत्ति द्वारा नहीं कल्पित कर सकते ।

अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्तीतरे सम्बन्धारम् । न च प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साध्वी । तस्मात् सम्बन्धुरभावः ।

अव्यतिरेकश्च—यथास्मिन्देशे सास्नादिमति गोशब्दे, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि । बहवः सम्बन्धारः कथं संगस्यन्ते । एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्ता ।

इसके अतिरिक्त, व्यवहारवादी (वृद्धव्यवहार के आधार पर शब्दार्थ-सम्बन्ध की अनादि परम्परा माननेवाले) लोग प्रत्यक्ष-प्रमाण से बोध्य तथ्य का उल्लेख करते हैं । जब कि दूसरे (विरोधी) लोग शब्दार्थ का सम्बन्ध निमित्त करनेवाले व्यक्तिविशेष का कल्पना अर्थापत्ति-प्रमाण से करते हैं । [इस प्रकार दोनों वादी अपने-अपने सिद्धान्तों के समर्थन में पृथक् प्रमाणों का आश्रय लेते हैं । ऐसी स्थिति में] जब प्रत्यक्ष से गम्य प्रत्यर्थी (विरोधी) तथ्य विद्यमान है तब कल्पना करना (अर्थापत्ति-प्रमाण से वस्तु को कल्पित करना) उचित नहीं है । इसलिए सम्बन्ध करनेवाले किसी व्यक्ति का होना सम्भव नहीं है ।

अब पंचम सूत्र में वर्तमान 'अव्यतिरेकश्च' (यह अनियत नहीं है) इस पद का अर्थ करेंगे । [शब्द का जो अर्थ किसी एक देश, काल, पात्र या अवस्था में होता है, वही सभी स्थितियों में होता है, इसमें कहीं भी व्यतिरेक या अपवाद नहीं होता । देश-विषयक अव्यतिरेक का यह उदाहरण है—] जिस प्रकार प्रस्तुत देश-विशेष में गो शब्द का अर्थ सास्नादि अंगों से युक्त पिंड होता है उसी प्रकार सभी स्थानों में, दुर्गम स्थानों में भी, होता है । तब यह कैसे सम्भव है कि अनेक सम्बन्धकर्ता लोग परस्पर ऐसे दुर्गम स्थानों में मिल सकेंगे ? यदि सम्बन्धकर्ता को एक मानते हैं तो उस एक के लिए सर्वत्र जाकर ऐसा सार्वजनीन व्यवहार सिखा देना सम्भव ही नहीं है । [इसलिए सम्बन्धकर्ता न अनेक हो सकते हैं, न एक] अतएव कोई सम्बन्धकर्ता सिद्ध नहीं होता ।

अपर आह—अव्यतिरेकश्च । न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन् कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन सम्बद्ध आसीत् । कथम् ? सम्बन्धक्रियैव नोपपद्यते । अवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्तव्यः । येन क्रियेत तस्य केन कृतः ? अथान्येन केनचित्कृतः, तस्य केनेति, तस्य केनेति नैवावतिष्ठते । तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वताऽकृतसंबन्धाः केचन शब्दा वृद्धव्यवहारसिद्धा अभ्युपगन्तव्याः । अस्ति चेद् व्यवहारसिद्धिर्न नियोगतः सम्बन्धो भवितव्यम्— इत्यर्थापत्तिरपि नास्ति ।

एक दूसरे व्याख्याकार इस 'अव्यतिरेकश्च' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—उक्त सम्बन्ध का विरोध करनेवाला कोई काल ही नहीं है, जिस काल में कोई शब्द किसी अर्थ से सम्बद्ध नहीं रहा हो (शब्दार्थ-सम्बन्ध के अभाव से युक्त कोई काल नहीं रहा—अनादि काल से यह सम्बन्ध चला आ रहा है) ।

यह आप कैसे कह सकते हैं ? इसलिए कि [सम्बन्ध के अभाव में] सम्बन्ध की क्रिया अपने आप सिद्ध नहीं होगी (सम्बन्ध होना असम्भव है) । जिस व्यक्ति ने पहली बार सम्बन्ध किया होगा उसने सम्बन्ध करने के काम में किसी शब्द की ही सहायता ली होगी ; जिस शब्द की उसने सहायता ली होगी, उस शब्द का अपने अभिप्रेत अर्थ से सम्बन्ध किसने किया होगा ? और उस सम्बन्ध की क्रिया में जो शब्द प्रयुक्त हुआ होगा, उसका सम्बन्धकर्ता कौन होगा—इस प्रकार यह प्रश्न-परम्परा कहीं नहीं रुक सकती (=अनवस्था-दोष होगा) । इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि प्रथम सम्बन्ध करनेवाले व्यक्ति ने निश्चय ही कुछ ऐसे शब्दों की सहायता ली होगी जिनमें सम्बन्ध उत्पन्न नहीं किया गया था, अपितु वृद्ध-व्यवहार से सिद्ध था—ऐसे शब्दों को स्वीकार करना ही होगा ।

अब यदि किसी भी अवस्था में हमें व्यवहार से शब्दार्थ-सम्बन्ध मानना ही पड़ता है तब अपनी आज्ञा से सम्बन्ध का निर्माण करनेवाले व्यक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है । इसीलिए शब्दार्थ-सम्बन्ध के निर्माता की सिद्धि के लिए अर्थापत्ति-प्रमाण भी नहीं हो सकता ।

स्यादेतत् । अप्रसिद्धसम्बन्धा वालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्त इति । नास्त्यदृष्टेऽनुपपन्नं नाम । दृष्टा वाला वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यमानाः । न च प्रतिपन्नाः सम्बन्धाः संबन्धस्य कर्तुः । तस्माद् वैषम्यम् ।

पूर्वपक्षी—जो भी हो, अब यह बतलाइये कि जिन बालकों को शब्दार्थ-सम्बन्ध अज्ञात (अप्रसिद्ध) हैं वे वृद्धों से शब्दों का अर्थ कैसे सीख सकते हैं ?

उत्तर—प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ के विषय में अनुपपत्ति का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । [जो संबन्धकर्ता है उसमें उपायाभाव के कारण असमर्थता हो सकती है किन्तु शब्दप्रयोक्ता वृद्ध में उपाय सम्भव होने के कारण असमर्थता नहीं है । यदि आप कहें कि शब्दश्रवण करनेवाले बालकों में भी उपायाभाव है अतः वे अर्थग्रहण कैसे करेंगे, तो यह बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि] वृद्धों से बालक लोग शब्दार्थ-सम्बन्ध सीखते देखे जाते हैं । दूसरी ओर, जो सम्बन्ध के तथाकथित निर्माता के रूप में कल्पित व्यक्ति है, उन्हें ये सम्बन्ध पहले से ज्ञात नहीं रहते हैं । इसीलिए यह विषमता है [कि निर्माता को संबन्ध अज्ञात है, शब्दरूपी दूसरी साधन भी नहीं है जब कि शब्दार्थ सीखने वाले बालक के पास साधन है—शब्द वृद्ध से सुनता है, अभिप्रेत पदार्थ को प्रत्यक्ष देखता है] ।

अर्थेऽनुपलब्धे । अनुपलब्धे च देवदत्तादावर्थेऽनर्थकं संज्ञाकरणमशक्यं च । विशेषान्प्रतिपत्तुं हि संज्ञाः क्रियन्ते विशेषाद्विचोद्दिश्य । तद्विशेषेण ज्ञायमानेषु भयमप्यनवक्लृप्तम् । तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः । अतश्च तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात् । न चैवं सति पुरुषान्तरं प्रत्ययान्तरं चापेक्ष्यते । तस्मान्नचोदनालक्षण एव धर्मो नान्यलक्षणः । बादरायणग्रहणमुक्तम् ।

[दूसरी युक्ति से भी सम्बन्ध के कर्ता का सम्भव न होना तथा उसका निरर्थक होना सिद्ध होता है जिसका ज्ञान हमें पंचम सूत्र के ही इस शब्द से होता है—] अर्थेऽनुपलब्धे अर्थात् देवदत्तादि पदार्थों का प्रत्यक्ष न होने की स्थिति में इस प्रकार की संज्ञा का निर्माण न केवल निरर्थक है, अपितु असम्भव भी है । [प्रभाकर ने बृहती टीका में देवदत्तादि के

स्थान पर 'देवतादि' पाठ रखा है—देवतादि अप्रत्यक्ष हैं तब इनका बोध कराने के लिए दोई पुरुष कैसे किसी शब्द का निर्माण कर सकता है ? और करेगा भी तो किस लाभ के लिए ?]

जब किसी वस्तु के सामान्य रूप का ज्ञान रहता है तब उसके विशेष रूपों को जानने के लिए ही संज्ञाओं का निर्माण होता है। अप्रसिद्ध पदार्थ के विशेष रूप भी अज्ञात रहते हैं, सामान्य रूप तो अज्ञात हैं ही। इस प्रकार दोनों के अनुपस्थित रहने के कारण संज्ञा का निर्माण असम्भव तथा व्यर्थ भी है। [भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि संज्ञाकरण वहाँ होता है जहाँ लोक में प्रसिद्ध देवदत्तादि पदार्थ का सामान्य ज्ञान तो है किन्तु इसके विशेष रूपों का ज्ञान नहीं है; इन्हीं विशेष रूपों का बोध कराने के अभिप्राय से ही संज्ञाशब्द दिये जाते हैं। अप्रसिद्ध पदार्थ के विषय में तो सामान्य और विशेष दोनों ही रूप असिद्ध हैं, तब संज्ञा कैसे दी जायेगी ? संबन्धकर्ता व्यक्ति के लिए ऐसी ही स्थिति होगी क्योंकि उसके समक्ष तो सभी पदार्थ अप्रसिद्ध हैं।]

इसलिए शब्द का अर्थ के साथ अपौरुषेय सम्बन्ध है। इसीलिए वह शब्द प्रमाण भी है क्योंकि वह निरपेक्ष है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शब्द न तो किसी दूसरे पुरुष की अपेक्षा रखता है [जो शब्द को प्रमाणित करे], और न इसे समर्थित करने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की ही अपेक्षा है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि केवल वेद से ही धर्म लक्षित होता है, किसी अन्य प्रमाण से वह लक्षित नहीं होता। सूत्र में वादरायण के निर्देश की चर्चा पहले हो चुकी है।

॥ (चित्रा-यागवाले आक्षेप का उत्तर)

अथ यदुक्तम्—अनिमित्तं शब्दः। कर्मकाले फलादर्शनात्कालान्तरे च कर्माभावात्प्रमाणं नास्तीति।

तदुच्यते—न स्यात्प्रमाणं यदि पञ्चैव प्रमाणान्यभिविध्यन्। येन येन हि प्रमीयते तत्तत्प्रमाणम्। शब्देनापि प्रमीयते। ततः शब्दोऽपि प्रमाणम्। यथैव प्रत्यक्षम्।

[शब्दार्थ-सम्बन्ध का विवेचन करने के बाद भाष्यकार पूर्वपक्षी के द्वारा लगाये गये कतिपय आक्षेपों का उत्तर देते हैं । वेद-प्रामाण्य को अस्वीकार करते हुए] पूर्वपक्षीने यह कहा था—शब्द (विधिवाक्य) धर्म को जानने का साधन नहीं है। कर्म का अनुष्ठान करने के समय फल नहीं दिखलाई पड़ने के कारण तथा दूसरे समय में (फल मिलने के समय) कर्म का अनुष्ठान न होने के कारण शब्द या विधिवाक्य प्रमाण नहीं है।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—सचमुच वह प्रामाणिक नहीं होता यदि केवल पाँच ही प्रमाण (=प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि) होते। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जिस-जिस साधन से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सभी प्रमाण ही है। शब्द के द्वारा भी तो यथार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए शब्द भी प्रमाण है, जैसे—प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

न च प्रमाणेनावगतं प्रमाणान्तरेणानवगतमित्येतावताऽनवगतं भवति। न चैवं भूयते—कृते कर्मणि तावदेव फलं भवति। किन्तु कर्मणः फलं प्राप्यत इति।

यच्च कालान्तरे फलस्यान्यप्रत्यक्षं कारणमस्तीति । नैष दोषः । तच्चैव हि तत्र कारणं शब्दश्चेति ।

किसी एक प्रमाण से जब कोई वस्तु ज्ञात होती है, तब दूसरे प्रमाण से ज्ञात न होने पर भी, वह अज्ञात नहीं कहलाती है, अपितु ज्ञात ही कहलाती है । [इसलिए किसी कर्म का फल वेद या शब्द-प्रमाण से ज्ञात हो जाता है, तब दूसरे प्रमाणों से उसका ज्ञान न होने पर भी वह ज्ञात ही कहा जायेगा, अज्ञात नहीं ।] ऐसा तो वेद में कहाँ नहीं कहा गया है कि कर्म के अनुष्ठान के बाद केवल उत्तरे से ही फल मिल जायगा । अपितु वहाँ केवल इतना कहा गया है कि कर्म का फल प्राप्त होता है । [इसलिए 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य से पशुरूप फल को प्रमाणित किया जाता है । अदृष्ट के रूप में फल मिलने का एक कारण-विशेष है । कर्मानुष्ठान के बाद अदृष्ट भी है, जो फल देता है । केवल कर्मानुष्ठान से फल नहीं मिलता ।]

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि दूसरे समय में जो फल को प्राप्ति होती है, उसका कारण तो कुछ दूसरा ही (अदृष्ट से भिन्न) प्रत्यक्षगम्य सेवादि-रूप में है [इसलिए कालान्तर में उत्पन्न होनेवाले पशु-रूप फल का कारण चित्रा-याग को नहीं मान सकते] । इसपर हम उत्तर देंगे कि यह कोई दोष नहीं । उस कालान्तरगामी फल का कारण वह अदृष्ट ही है, साथ ही विधिवाक्य के रूप में शब्द भी कारण है । [दृष्ट-रूप जो सेवादि कारण है उसमें अपवाद या व्यभिचार हो सकता है, इसलिए वह कारण नहीं । फल मिलने के दो ही कारण हैं—विधिवाक्य को प्रमाण मानकर किया गया कर्मानुष्ठान तथा समस्त कर्मों को यथासमय फल-रूप में परिणत करनेवाला अदृष्ट ।]

आत्मा के विषय में विवेचन

यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तं—“स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं यातीति प्रत्यक्षशरीरकं व्यपदिशति” इति । तदुच्यते—शरीरसंबन्धात् । यस्य तच्छरीरं सोऽपि तैर्यज्ञायुधैर्यज्ञायुधीत्युच्यते ।

आह—कोऽसावन्यो नैनमुपलभामहे । प्रणादिभिरेनमुपलभामहे । योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिषति इत्यादि—चेष्टितवान्, सोऽत्र शरीरे यज्ञायुधीति ।

पूर्वपक्षी ने वेदवाक्यों में प्रत्यक्ष विरोध का आरोप लगाते हुए यह उद्धरण दिया था—‘यह यजमान यज्ञरूपी आयुध से सुसज्जित होकर शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त करता है ।’ यह वाक्य अग्निहोत्री के अन्त्य-कर्म के प्रसंग में आया है, जिसमें प्रत्यक्षतः शरीर के स्वर्ग-गमन का निर्देश है [जो असंभव है क्योंकि शरीर तो जल जाता है] ।

इसका उत्तर हम देंगे कि [यहाँ शरीरधारी जीव या आत्मा का निर्देश है] जिसका शरीर से सम्बन्ध है, इसीलिए ऐसा कहा गया है । जिस (आत्मा) का वह शरीर है वह आत्मा भी यज्ञ के उन आयुधों अर्थात् पात्रों के कारण ‘यज्ञायुधी’ कहा गया है ।

अब प्रश्न है कि शरीर से भिन्न वह कौन-सी सत्ता (आत्मा) है ? उसे तो हम जानते ही नहीं । उत्तर यह है कि प्राण (साँस लेना) आदि क्रियाओं को देखकर अनुमान द्वारा हम उसे जानते हैं । जो सत्ता साँस लेती है (प्राणिति), वायु-विसर्जन करती है (अपानिति),

साँस छोड़ती है, पलकें गिराती है (निमिषति) — इस प्रकार की अन्यान्य चेष्टाओं से युक्त है, वही इस शरीर में [इन पात्रों को धारण करने के कारण] 'यज्ञ के पात्रों से युक्त' कही गयी है । [आत्मा की सत्ता का यह प्रतिपादन न्याय-वैशेषिक मत से किया जा रहा है ।]

ननु शरीरमेव प्राणिति अपानिति च । न प्राणादयः शरीरगुणविधर्मणोऽप्यवच्छरीरभावितात् । यावच्छरीरं तावदस्य गुणा रूपादयः । प्राणादयस्तु सत्यपि शरीरे न भवन्ति । सुखादयश्च स्वयमुपलभ्यन्ते, न रूपादय इव शरीरगुणाः परेणापीति । तस्माच्छरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीराद् यज्ञायुधोति ।

पूर्वपक्षी शंका करता है कि शरीर ही तो साँस लेने और वायु-विसर्जन का काम करता है [तब इन चेष्टाओं की सिद्धि के लिए शरीर से भिन्न आत्मा को मानने की क्या आवश्यकता है ?] ।

हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं । प्राणन (साँस लेना) आदि चेष्टाएँ शरीर के गुणों के विपरीत धर्मवाली होती हैं (शरीर के गुणों का—रूपादि का—जैसा स्वभाव है वैसा स्वभाव प्राणादि का नहीं है), क्योंकि जब तक शरीर अवस्थित है तब तक ये चेष्टाएँ नहीं रहती हैं (= मृत्यु के बाद शरीर तो रहता है किन्तु चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं) । शरीर के गुण हैं—रूप, गन्धादि । ये तब तक वर्तमान रहते हैं जब तक शरीर अवस्थित है । प्राणन आदि चेष्टाएँ तो शरीर के रहने पर भी [जैसे—मृत्यु के बाद] स्वयं समाप्त हो जाती हैं, नहीं रहती ।

[आत्मा को शरीर से भिन्न सिद्ध करने की एक दूसरी युक्ति भी है—] सुख, दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं जो केवल उसी व्यक्ति के द्वारा प्रत्यक्षतः जाने जाते हैं जिसमें ये उत्पन्न होते हैं । दूसरी ओर रूपादि जो शरीर के गुण हैं, वे दूसरे व्यक्तियों के द्वारा भी जाने जाते हैं [अर्थात् आत्मा के गुण आत्मनिष्ठ होते हैं, जब कि शरीर के गुण विषयनिष्ठ भी होते हैं] । इस प्रकार शरीर के गुणों से विपरीत स्वभाव होने के कारण प्राणनादि क्रियाओं से युक्त कोई सत्ता है, जो कि शरीर से भिन्न है और जिसे 'यज्ञायुधी' कहा गया है ।

विज्ञानमात्र को आत्मा माननेवालों की शंका

आह—कुत एष संप्रत्ययः । सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति । न हि सुखादिप्रत्याख्यानेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे । तस्माच्छशविषाणवदसौ नास्ति । अयोच्यते—तेन विना कस्य सुखादय इति ? न कस्यचिदपीति वक्ष्यामः । न हि यो यः उपलभ्यते तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यम् । यस्य संबन्धोऽप्युपलभ्यते संबन्धी च, तस्यायं संबन्धीति गम्यते । न हि चन्द्रमसमादित्यं वोपलभ्य संबन्धान्वेषणा भवति—कस्यायमिति ? न कस्यचिदपीत्यवधार्यते । तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति ।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—यह ज्ञान कहाँ से उत्पन्न होता है कि सुखादि के ज्ञानों से भिन्न कोई दूसरी सत्ता है जो इन ज्ञानों को धारण करती है ? सुखादि ज्ञानों को छोड़कर (प्रत्याख्यानेन) उस अन्य सत्ता (आत्मा) के स्वरूप को हम नहीं प्राप्त करते हैं (केवल सुखादि ज्ञानों का ही तो बोध होता है) । इसलिए जिस वस्तु की उपलब्धि नहीं हो, वह वस्तु भी नहीं है—इस नियम से खरहे के सींग के समान वह आत्मा भी असत् है ।

अब यदि उत्तरपक्षवाले (आत्मा की सत्ता मानने वाले) शंका करें कि जब आत्मा नहीं होगा तब सुखादिगुण किसके कहे जायेंगे—तो हम (पूर्वपक्षी) उत्तर देंगे कि किसी के नहीं रहेंगे (वे स्वतःसिद्ध हैं)। यह कोई आवश्यक नहीं कि जिस किसी पदार्थ की उपलब्धि होती हो, उसके सम्बन्धी भी रहेंगे। हाँ, इतनी बात मानने योग्य है कि जिस पदार्थ के सम्बन्ध की उपलब्धि होती हो और सम्बन्धी की भी—केवल उसी पदार्थ के विषय में यह ज्ञान होता है कि उसका यह सम्बन्धी है। [सभी पदार्थों का परतंत्र होना आवश्यक नहीं है; जिसकी परतंत्रता प्रमाणों से प्राप्त होती हो, केवल वही पदार्थ परतंत्र है।] चन्द्रमा अथवा सूर्य की उपलब्धि (ज्ञान) कर किसी को सम्बन्ध के विषय में यह जिज्ञासा नहीं होती है कि यह किसका है? वास्तव में हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यह किसी का नहीं।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि सुखादि-ज्ञान स्वाधीन है, इनसे भिन्न कोई ऐसी सत्ता (आत्मा) नहीं है जिसे हम सुखादि-ज्ञान का आश्रय मान सकें।

[यदि सभी पदार्थों में सम्बन्धी की कल्पना करने लगे तो अनवस्था-दोष होगा, कहीं भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी—]

अथोपलब्धस्यावश्यं कल्पयितव्यः संबन्धी भवति, तत आत्मानमप्यनेन प्रकारेणोपलभ्य कस्यायमिति सम्बन्ध्यन्तरमन्विष्येम। तमपि कल्पयित्वाऽन्यमपि कल्पयित्वाऽन्यमित्यव्यवस्थैव स्यात्।

अथ कञ्चित्कल्पयित्वा न संबन्ध्यन्तरमपि कल्पयिष्यसि, तावत्येव चिरंस्थसि, तावता च परितोष्यसि—ततो विज्ञान एव परितुष्य तावत्येव चिरन्तुमर्हसि।

अब यदि आपको (उत्तरपक्षी को) सभी उपलब्ध पदार्थों के लिए किसी-न-किसी सम्बन्धी की कल्पना करना अत्यन्त ही आवश्यक हो, तो इसी प्रकार से आत्मा की उपलब्धि करने के बाद हम आत्मा के विषय में भी यह पूछेंगे कि यह किसका है? तदनन्तर दूसरे सम्बन्धी का अन्वेषण करेंगे। प्रथम उसकी कल्पना फिर उसके दूसरे सम्बन्धी का अन्वेषण करने की कल्पना अनन्त काल तक चलती रहेगी—फलतः अव्यवस्था हो जायेगी (किसी एक स्थल पर आत्मा व्यवस्थित नहीं हो सकेगी)।

दूसरी ओर यदि आप किसी एक स्थल पर स्थिर हो जाते हैं; किसी एक वस्तु (आत्मा) की कल्पना करने के बाद उसके दूसरे सम्बन्धी की कल्पना नहीं करते तथा उसी स्थान पर रुक जाते हैं, केवल उतने से सन्तुष्ट हो जाते हैं तो हम आपको परामर्श देंगे कि विज्ञान (सुखादि-ज्ञान-मात्र) में ही सन्तुष्ट होकर वहीं पर रुक जा सकते हैं। (पृथक् आत्मा की कल्पना क्यों करने जा रहे हैं?)

(आत्मा के विषय में सिद्धान्त तथा विवाद)

अत्रोच्यते—यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कर्ताहं जानातीत्युच्यते? ज्ञानस्य कर्तुरभिवानमनेन शब्देनोपपद्यते। तदेष शब्दोऽर्थवान्कर्तव्य इति ज्ञानाद् व्यति-रिक्तमात्मानं कल्पयिष्याम इति।

इस आक्षेप का उत्तर दिया जाता है—यदि ज्ञान से पृथक् कोई सत्ता नहीं है, तो आप लोग यह किसके विषय में कहेंगे कि 'जानता है'—(यह कौन जानता है?) वस्तुतः इस (जानाति) शब्द से ज्ञान के कर्ता (आत्मा) का ही निर्देश सिद्ध होता है [किं

जाननेवाली कोई सत्ता ज्ञान से पृथक् स्थित है। इस (जानाति) शब्द को सार्थक सिद्ध करने के लिए ही हमें ज्ञान से भिन्न आत्मा की कल्पना करना होगी।

आह—वेदा^१ एवं शब्दमर्थवन्तं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्पयितव्यं प्रसंश्यन्ते। बहवः खल्विह जनाः 'अस्त्यात्मा' 'अस्त्यात्मा' इत्यात्मसत्तावादिनः एव शब्दस्य प्रत्यक्षवक्तारो भवन्ति, तथापि नात्मसत्तां कल्पयितुं घटन्ते। किमङ्ग पुनर्जानातीति परोक्षशब्ददर्शनात् ? तस्मादसदेतत् ।

पूर्वपक्षी कहता है—वेद (या देवता लोग—पाठा०) ही इस शब्द (आत्मा) के सार्थक होने (= किसी पदार्थ-विशेष का बोधक होने) की कल्पना करेंगे, यदि वे इसे कल्पनीय समझें। [हम मनुष्यों की शक्ति से यह ऊपर की वस्तु है। वास्तव में हम देखते हैं कि आत्मा की सत्ता माननेवाले बहुत से लोग 'आत्मा' वर्तमान है, आत्मा का अस्तित्व है' इत्यादि कहते हुए 'आत्मा' शब्द का प्रत्यक्षतः उच्चारण करते हैं; फिर भी आत्मा की सत्ता को कल्पित करने में सफल नहीं होते। अरे महाराज ! [जब प्रत्यक्ष शब्दोच्चारण से आत्मा की सिद्धि नहीं होती,] तो इस परोक्ष शब्द 'जानाति' से क्या आत्मा की सिद्धि होगी ? इसलिये आत्मा की यह कल्पना यथार्थ नहीं।

विशेष—बड़ी-बड़ी युक्तियों से भी आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकने पर भी 'जानाति' क्रिया के कर्ता के रूप में आत्मसिद्धि का प्रयास 'महागज-पलायन'-न्याय कहलाता है—बड़े-बड़े हार्थी भी भाग गये, इस क्षुद्र जीव से क्या होगा ? कल्पकलिकाकार ने इस संदर्भ में इस न्याय का उद्धरण दिया है—

हते मांमे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ।

आशा बलवती राजन् ! शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ॥

अब भाष्यकार आत्मा की सिद्धि इच्छादि-लिंगों के आधार पर करने जा रहे हैं जो न्यायमत के अनुसार है—

उच्यते । इच्छयात्मानमुपलभामहे । कथमिति ? उपलब्धपूर्वं ह्यभिप्रेते भवतीच्छा । यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि न तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति । नो खल्वन्येन पुरुषेणोपलब्धेऽपि विषयेऽन्यस्योपलब्धुरिच्छा भवति । भवति चान्येद्युपलब्धेऽप्येद्युरिच्छा । तेनोपलम्भनेन समानकर्तृका सेत्यवगच्छामः ।

यदि विज्ञानमात्रमेवेदमुपलम्भकमभविष्यत्, प्रत्यस्ते तस्मिन् कस्यापरेद्युरिच्छाऽभविष्यत् ? अथ तु विज्ञानादन्यो विज्ञाता नित्यस्तत् एकस्मिन्नहनि य एवोपलब्धाऽपरेद्युरपि स एवैषिष्यतीति । इतरथा हीच्छा नोपपन्ना स्यात् ।

इसका उत्तर दिया जाता है—इच्छा के द्वारा हम आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह कैसे ? [इसके उत्तर में नैयायिक ज्ञान तथा इच्छा दोनों के समान विषय होने (समानविषयकत्व) तथा समान कर्ता होने (समानकर्तृकत्व) का प्रदर्शन करते हैं—] जिस विषय का ज्ञान पहले से हो चुका रहता है और इसके फलस्वरूप जो विषय उस व्यक्ति को अभीष्ट हो जाता है—उसीके विषय में इच्छा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ

त्रैलोक्य-पर्वत के उत्तर में (अर्थात् हमारी पहुँच के बाहर के स्थान में) वर्तमान वृक्षों में जो स्वादिष्ट फल लगते हैं, जिन्हें हम पहले से नहीं जानते, उनके विषय में हमारी इच्छा उत्पन्न नहीं होती ।

इतना ही नहीं, किसी एक पुरुष के द्वारा उपलब्ध (ज्ञात) पदार्थ के विषय में उससे भिन्न पुरुष की, जो दूसरे विषय का ज्ञाता है, इच्छा नहीं होती है । [कहने का अभिप्राय है कि जिसे ज्ञान होता है, उसे ही इच्छा भी—दोनों के कर्ता और विषय भी अभिन्न होते हैं ।] किन्तु पिछले दिन ज्ञात हुए पदार्थ के विषय में दूसरे दिन इच्छा उत्पन्न होती है । इससे इतना स्पष्ट है कि उपलब्धि (ज्ञान की प्राप्ति) करनेवाला तथा इच्छा करनेवाला व्यक्ति एक ही है ।

यदि विज्ञानमात्र ही ज्ञान प्राप्त करनेवाला (उपलब्धक) होता, तो पिछले दिन ही ज्ञान के समाप्त हो जाने के कारण दूसरे दिन किसमें इच्छा उत्पन्न होगी ? अब यदि हमारे मत के अनुसार ज्ञान से भिन्न एक विज्ञाता (आत्मा) को नित्य मानकर स्वीकार कर लें, तब यह असंगति भी नहीं रहेगी एक दिन जो ज्ञाता रहा है, वही दूसरे दिन इच्छा भी करेगा । यदि नित्य आत्मा को नहीं मानेंगे तो इच्छा की सिद्धि नहीं होगी (पहले दिन देखे हुए पदार्थ के विषय में दूसरे दिन इच्छा सम्भव नहीं होगी) ।

**अत्रोच्यते—अनुपपन्नमिति नः क्व संप्रत्ययः ? यन्न प्रमाणेनावगतम् । विज्ञाना-
त्तावदन्यं नोपलभामहे । यन्नोपलभामहे, तच्छशविषाणवदेव नास्तीत्यवगच्छामः ।
न च तस्मिन्नसति विज्ञानसद्भावोऽनुपपन्नः । प्रत्यक्षावगतत्वादेव ।**

विज्ञानवादी इसका उत्तर देता है—‘यह वस्तु असम्भव (अनुपपन्न) है’ इस प्रकार का ज्ञान हमें किस पदार्थ के विषय में होता है ? यह उसी पदार्थ के विषय में होता है जिसे हम प्रमाण-द्वारा नहीं जान सकते हैं । वस्तुतः हम विज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को नहीं पाते । जिस चीज का इस प्रकार ज्ञान हम नहीं पाते हैं, वह वस्तु खरबे के सींग के समान ही सत् नहीं है (= अज्ञात होने के कारण आत्मा नहीं है) । उस अज्ञात आत्मा के न रहने की स्थिति में ज्ञान की सत्ता भी असम्भव होगी—ऐसी बात नहीं है । इसका कारण यह है कि ज्ञान की तो हम साक्षात् (प्रत्यक्ष से ही) प्राप्ति करते हैं ।

**क्षणिकत्वं चास्य प्रत्यक्षपूर्वकमेव । न च ज्ञातरि विज्ञानादन्यस्मिन्नसति, ज्ञाने
चानित्येऽपरेद्युरिच्छानुपपन्ना । प्रत्यक्षावगतत्वादेव । नो खल्वप्येतद् दृष्टं य
एवान्येद्युरुपलब्धा स एवान्येद्युरेक्षितेति । इदं तु दृष्टं यत्क्वचिदन्येन दृष्टमन्य
इच्छति । क्वचिन्न । समानायां सन्ततावन्य इच्छति, सन्तत्यन्तरे नेच्छतीति ।
तस्मान्न सुखादिव्यतिरिक्तोऽन्योऽस्तीति ।**

**अत्रोच्यते—न ह्यस्मर्तार इच्छन्तीत्युपपद्यते । न वाऽदृष्टपूर्वं स्मृतिर्भवति ।
तस्मात्क्षणिकविज्ञानस्कन्धमात्रे स्मृतिरनुपपद्येति ।**

पुनः इस विज्ञान का क्षणिक होना प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है । जब कि ज्ञाता (आत्मा) विज्ञान से भिन्न नहीं है और ज्ञान अनित्य है, तब ऐसी स्थिति में दूसरे दिन इच्छा का उत्पन्न होना असम्भव नहीं है (= इच्छा दूसरे दिन हो सकती है), क्योंकि दूसरे दिन इच्छा की उत्पत्ति का हम प्रत्यक्ष बोध करते हैं । यह स्थिति भी सर्वदा दिखाई नहीं पड़ती कि

जिस व्यक्ति ने किसी पदार्थ का ज्ञान पहले दिन किया, वही व्यक्ति दूसरे दिन उसकी इच्छा करेगा (इप् + वृच् = एषिता = इच्छा करनेवाला) । इसके विपरीत यह देखा जाता है कि कभी-कभी दूसरे व्यक्ति के द्वारा देखे गये पदार्थ की इच्छा उससे भिन्न व्यक्ति कर रहा है । [इससे ज्ञान और इच्छा की समानकर्तृकता का नियम असिद्ध हो जाता है ।] हाँ, यह भी सत्य है कि कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता (अर्थात् कभी-कभी एक के दृष्ट पदार्थ की इच्छा दूसरा नहीं करता) ।

[वस्तुतः हमारे बौद्धों के विचार से समस्त ज्ञान क्षणिक है जिसकी संतति अर्थात् धारावाहिक परम्परा चलती जा रहा है । एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है । इसी ज्ञान-सन्तान-परम्परा में समस्त संसार चल रहा है । इसी को दृष्टि में रखकर ये पूर्वपक्षी बौद्ध कहते हैं—] यदि ज्ञान की संतति एक (समान) हो तो यह कह सकते हैं कि एक विज्ञान ने जिस वस्तु का बोध किया है, उसी संतति का दूसरा विज्ञान उस वस्तु की इच्छा कर सकता है [जिसके कारण कहा जाता है कि जिसने बोध किया उसी ने इच्छा की—किन्तु आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है] । दूसरी ओर, संततियों में भेद होने की स्थिति में यह कहा जाता है कि एक की देखी हुई वस्तु की इच्छा दूसरे (विज्ञान) ने नहीं की । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुखादि से भिन्न दूसरी कोई सत्ता नहीं [जिसे आप आत्मा कहें] ।

यहाँ हम उत्तर देंगे कि जो व्यक्ति किसी वस्तु का स्मरण नहीं रखते (अ-स्मर्तारः) वे उसकी इच्छा करेंगे—यह बात सम्भव नहीं लगती । पुनः स्मृति उस वस्तु की नहीं होती जिसे पूर्व में कभी देखा ही न हो । इसलिए क्षणिक विज्ञानरूप वस्तुमात्र के विषय में स्मृति का होना असम्भव है ।

विशेष—भाष्यकार ने इस सन्दर्भ में वैभाषिक बौद्धों द्वारा स्वीकृत 'स्कन्ध' शब्द की चर्चा की है, इसके बाद वे 'स्कन्धघन' का भी उल्लेख करेंगे । इस स्थल पर ये शब्द विज्ञानमात्र वस्तु के अर्थ में आये हैं । पारिभाषिक दृष्टि से विभिन्न धर्मों की राशियों को स्कन्ध कहते हैं । इनके पाँच भेद हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान । स्कन्ध वस्तुतः तीन चीजों के सन्निपात-रूप प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं—वस्तु, इन्द्रिय तथा विज्ञान । ये क्षणिक तथा नित्य परिवर्तनशील हैं ।

अत्राह—स्मृतिरपीच्छावत् । पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं, पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते । तच्च द्रष्टरि विनष्टेऽप्यपरेद्युत्पद्यमानं नानुपपन्नम् । प्रत्यक्षावगतत्वादेव । एकास्मिन् स्कन्धघनेऽन्येन स्कन्धघनेन यज्ज्ञानं तत् तत्सन्ततिजेनान्येनोपलभ्यते, नातत्सन्ततिजेनान्येन ।

तस्माच्छून्याः स्कन्धघना इति । अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (वृ० उ० ४।५) इति ।

विज्ञानवार्ता पुनः उत्तर देता है—स्मृति भी तो इच्छा के ही समान है । [जिस प्रकार इच्छा तथा ज्ञान के स्कन्ध में संतति की समानता या भिन्नता के आधार पर समानकर्तृकता या भिन्नकर्तृकता—जैसी व्याख्या होती है, उसी प्रकार स्मृति की भी स्थिति है । एक ही सन्तान होने की स्थिति में एक ज्ञान द्वारा दृष्ट पदार्थ के विषय में स्मृति उसकी सन्तान-

जन्य वासना के कारण हो सकती है। दूसरी सन्तति के विषय में स्मृति अवश्य ही नहीं होगी।]

स्मृति उस विज्ञान को कहते हैं जो पूर्वज्ञान के समान हो अथवा जिसका विषय पूर्वज्ञान हो। [इच्छा की भी यही स्थिति है।] इस प्रकार की स्थिति होने के कारण, द्रष्टा (=पूर्व दिन का विज्ञान) के नष्ट हो जाने पर भी, दूसरे दिन यदि स्मृति-रूप विज्ञान उत्पन्न हो तो इसमें कोई असंगति नहीं है। बात यह है कि हम इसे प्रत्यक्ष रूप से जान पाते हैं। वास्तविकता यह है कि एक विज्ञान (स्कन्धवन) के विषय में दूसरे विज्ञान को ज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी स्मृति उसी सन्तान (ज्ञान-परम्परा) के अन्तर्गत आनेवाले दूसरे विज्ञान को होती है। * ससे भिन्न सन्तान में आनेवाले विज्ञान को यह स्मृति अवश्य ही नहीं होगी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान शून्य^१ अर्थात् आत्मा के रूप में किसी बाह्य आधार से रहित होते हैं। अब इस विषय में ब्राह्मण-वचन (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।१३ जो शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है) भी है—‘विशुद्ध विज्ञान ही इन पंचभूतों से [मृत्यु के समय, शरीर से] निकलकर उन्हीं भूतों में प्रविष्ट हो जाता है, तथा मृत्यु हो जाने के बाद चेतना (संज्ञा) नहीं रहती है।’

आत्मा की नित्यता

उच्यते—नैतदेवम् । अन्येद्युदृष्टेऽपरेद्युः ‘अहमिदमदर्शम्’ इति भवति प्रत्ययः । प्रत्यगात्मनि चैतद् भवति, न परत्र । अपरो ह्यसावन्येद्युदृष्टवान् । तस्मात्तद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति यत्रायमहंशब्दः ।

इसका उत्तर हम देंगे कि वही बात नहीं है। पहले दिन देखे हुए पदार्थ के विषय में दूसरे दिन यह प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान होता है कि इसे मैंने पहले देख लिया है। इस प्रकार का ज्ञान केवल प्रत्यगात्मा में ही होता है, किसी दूसरे में नहीं। किसी दूसरे में यह ज्ञान इसलिए नहीं हो सकता कि देखनेवाला, जिसने पिछले दिन देखा, बिल्कुल ही दूसरा होगा और अगले दिन प्रत्यभिज्ञा करने वाला दूसरा होगा। इसलिए यह सिद्ध होता है कि ज्ञान से भिन्न कोई सत्ता अवश्य है जिसके लिए यह ‘अहं’ (मैं) शब्द आता है।

आह—परत्राप्यहंशब्दो भक्त्या दृश्यते । यथाहमेव पुत्रः, अहमेव देववत्तः, अहमेव गच्छामीति ।

अत्रोच्यते—न वयमहमितीमं शब्दं प्रयुज्यमानमन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदिशामः । किं तर्हि ? शब्दाद् व्यतिरिक्तं (प्रत्यभिज्ञा)^२ प्रत्ययम् । प्रतीमो वयमिममर्थं, वयमेवान्येद्युरूपलभामहे, वयमेवाहं स्मराम इति । तस्माद् वयमिममर्थमवगच्छामो वयमेव ह्यो वयमेवाहोति । ये ह्योऽहं च, न ते विनष्टाः ।

पूर्वपक्षी कहता है—कभी-कभी लाक्षणिक रूप से (भक्त्या) आत्मा से भिन्न वस्तुओं के लिए भी इस ‘अहम्’ शब्द का प्रयोग दिखलाई पड़ता है जैसे—मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही

१. शून्या :—स्वांशव्यतिरिक्तविषयशून्या इत्यर्थः (प्रभा) ।

२. यह पाठ न्याय-रत्नाकर का है, यही शुद्ध भी है ।

देवदत्त हूँ, मैं ही जाता हूँ । [इन सभी उदाहरणों में 'मैं' (अहम्) शब्द शरीर के अर्थ में आया है—इलोकवार्तिक, आत्मवाद, १०८ ।]

यह। हम इस प्रकार उत्तर देंगे—हम यहाँ 'अहम्' (मैं) इस शब्द के प्रयोग को दूसरे सिद्धान्त (ज्ञान से भिन्न आत्मा है) की सिद्धि के लिए हेतु के रूप में नहीं देते हैं। तब क्या करते हैं ? हम हेतु के रूप में जो वस्तु रखना चाहते हैं वह इस 'अहम्' शब्द से भिन्न है। वह है ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान (न्यायरत्नाकर के अनुसार)। इसका स्वरूप इस प्रकार है कि हम लोग प्रस्तुत पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं, दूसरे दिन उस पदार्थ को पाते हैं और आज उस पदार्थ का स्मरण करते हैं। इसके फलस्वरूप हम इस तथ्य को जान लेते हैं कि जो हम कल थे, वही हम आज हैं। ऐसी परिस्थिति में यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो पदार्थ कल भी थे और आज भी हैं, वे विनष्ट नहीं हुए हैं। [इस प्रकार स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है ।]

अथाप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति । 'स वा अयमात्मा' इति प्रकृत्य आप्नन्ति—
'अशीर्यो न हि शीर्यत इति' (बृहदा० उप० ४।५) । तथाऽविनाशी वा अरे
अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा इति (तन्नव, ४।५) । विनश्वरं च विज्ञानम् । तस्मा-
द्विनश्वरादन्यः स इत्यवगच्छामः ।

इसके अतिरिक्त, इस विषय के प्रतिपादनार्थ ब्राह्मण-वचन भी हैं। जैसे—'यह आत्मा वहीं है' इतनी बात कहकर आगे चलकर घोषणा की गयी है कि वह आत्मा अनश्वर है, नष्ट नहीं होती (बृ० उप० ४.५.१५) । इसी प्रकार यह भी है—यह आत्मा निश्चित रूप से अविनाशी है, इसका स्वभाव उच्छेद (नाश) होना बिल्कुल ही नहीं है (वही, ४।५।१५) ।

दूसरी ओर बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित यह विज्ञान-तत्त्व नश्वर (क्षणिक) होता है। इसलिए वह आत्मा इस विनश्वर विज्ञान से भिन्न है—ऐसा बोध हमें होता है ।

न च शक्यमेवमवगन्तुं यथोपलभ्यन्तेऽर्थाः, न तथा भवन्तीति । यथा तु खलु
नोपलभ्यन्ते तथा भवन्तीति । तथा हि सति शशो नास्ति, शशस्य विषाणमस्ती-
त्यवगम्येत । न चाहंप्रत्ययो व्यामोह इति शक्यते वक्तुम्, बाधकप्रत्ययाभावात् ।
तस्मात्सुखविभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति । एवं चेत्स एव यज्ञायुधीति व्यपदिश्यते ।

[प्रमाणों के अनुसार सिद्ध होनेवाली वस्तु को स्वीकार न करने का अतिप्रसंग दिखाते हुए भाष्यकार उत्तरपक्ष को आगे बढ़ाते हैं—] कोई व्यक्ति यह धारणा नहीं रख सकता है कि जिस रूप में पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं, वे उस रूप में वस्तुतः नहीं हैं तथा जिस रूप में वे दिखलाई नहीं पड़ रहे हैं, वस्तुतः उसी रूप में हैं। ऐसा होने पर स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती कि खरहा तो नहीं होता, किन्तु उसकी सींग होती है—इस प्रकार का ज्ञान होने लगता ।

'अहम्' के रूप में होनेवाले इस ज्ञान को व्यामोह या भ्रम भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वाद में इस ज्ञान को बाधित करनेवाले दूसरे ज्ञान का अभाव रहता है। इससे हम निष्कर्ष निकालते हैं कि सुखादि के ज्ञान से भिन्न एक सत्ता है [जिसे आत्मा कहते हैं] और उसी को उक्त ब्राह्मण-वाक्य में 'यज्ञायुधी' कहा गया है (=यज्ञपात्रों से युक्त होकर स्वर्ग जानेवाला तत्त्व आत्मा ही है) ।

(आत्मा का स्वरूप निर्देश)

आह—यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञात्, विज्ञानमपास्य तन्निदर्शयतामिदं तदीदृशं चेति । न च तन्निदर्शयते । तस्मान्न ततोऽन्यदस्तीति ।

अत्रोच्यते । स्वसंवेद्यः स भवति । नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निदर्शयतेति । यथा च कश्चिच्चक्षुष्मान् स्वयं रूपं पश्यति । न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तन्निदर्शयितुम् । न च तन्न शक्यते निदर्शयितुमित्येतावता नास्तीत्यवगम्यते । एवमसौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम् । अन्यस्य द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनशक्त्यभावात् ।

आत्मा के स्वरूप के विषय में पूर्वापक्षी प्रश्न करता है—यदि विज्ञान से भिन्न विज्ञाता के रूप में कोई आत्मा है, तो विज्ञान को छोड़कर आप उसका निदर्शन करें (बतलाइये) कि यह आत्मा है और इस प्रकार की है । किन्तु ऐसा तो बतलाया ही नहीं जा सकता । इससे हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान से भिन्न कोई विज्ञाता (आत्मा) नहीं है ।

इस विषय में सिद्धान्तपक्षी उत्तर देते हैं—वास्तव में आत्मा अपने-आप जानने की वस्तु (स्वसंवेद्य) है । किसी को आत्मा को दूसरे लोग देख नहीं सकते तो कैसे यह निदर्शन किया जाय कि यह आत्मा है । [अपने सुख-दुःखादि को तत्त्वतः दूसरे को दिखाया नहीं जा सकता क्योंकि कोई उपाय ही नहीं है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति में स्वानुकूल तथा प्रतिकूल वेदना के आधार पर उसकी सिद्धि होती ही है; कोई व्यक्ति नहीं कहता कि सुख-दुःख की सत्ता नहीं होती । इसी प्रकार यह आत्मा भी स्वसंवेद्य है, उपायाभाव के कारण बाह्य पदार्थों के समान प्रदर्शित नहीं की जा सकती । किन्तु स्वानुभूतिसिद्ध होने के कारण इसकी सत्ता पर आक्षेप भी नहीं किया जा सकता ।] उदाहरण के लिए, कोई आँखवाला व्यक्ति स्वयं तो रूप देख सकता है किन्तु उसी रूप को किसी जन्मान्ध व्यक्ति को दिखाकर समझा नहीं सकता । चूँकि रू को दूसरे को दिखाया नहीं जा सकता, इसलिए यह अनुमान तो नहीं होता कि रूप की सत्ता ही नहीं है ।

इसी प्रकार वह व्यक्ति स्वयं तो आत्मा का बोध या अनुभव कर सकता है, किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति को दिखाया नहीं सकता । इसका कारण यह है कि उस अन्धे के ही समान दूसरे पुरुष में दूसरे पुरुष की आत्मा को देखने की शक्ति नहीं रहती ।

सोऽप्यन्यः पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न च परात्मानम् । तेन सर्वे स्वेन स्वेनात्मनात्मानमुपलभमानाः सन्त्येव, यद्यपि परपुरुषं नोपलभन्त इति । अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति—‘शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुषः आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच’ इति (वृहदा० उप० ४।३) । ‘परेण नोपलभ्यते’ इत्यत्रापि ब्राह्मणं भवति—‘अगृह्यो न हि गृह्यते’ (तत्रैव, ३।९) इति । परेण न गृह्यत इत्येतदभिप्रायमेतत् । कुतः ? स्वयंज्योतिष्ट्ववचनात् ।

वह दूसरा पुरुष भी अपनी आत्मा का स्वयं बोध करता है, किन्तु किसी दूसरे पुरुष की आत्मा को नहीं जान सकता है । इस प्रकार सभी लोग अपनी-अपनी आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान पाते हुए अवस्थित हैं (आत्मा सत् है), यद्यपि कोई भी दूसरे व्यक्ति की आत्मा को नहीं जान पाते ।

इस विषय का प्रतिपादन करनेवाला ब्राह्मण वाक्य भी है—‘वाणी की समाप्ति हो जाने पर मनुष्य के पास कौन-सी ज्योति बच जाती है? हे सत्राद्, उस समय उसके पास आत्मा के रूप में ज्योति रहती है—ऐसा उत्तर दिया गया’ (बृ० उप० ४।३) । [महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को यह उपदेश दिया था कि मृत्यु के बाद पुरुष आत्मज्योति से ही प्रकाश्य होता है, वाणी भी वहाँ पहुँच नहीं पाती] । दूसरे पुरुष के द्वारा दूसरे की आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता—इस तथ्य के समर्थन में भी ब्राह्मण-वाक्य है—‘वह अग्राह्य है, उसका ग्रहण नहीं हो सकता’ (बृ० उप० ३।९) । यह इस अभिप्राय से कहा गया है कि दूसरे व्यक्ति इसका ग्रहण नहीं कर सकते । क्यों? आत्मा स्वयंज्योति (स्वप्रकाश) है—इस वचन से ही यह प्रकट होता है ।

अथापि ब्राह्मणं भवति—‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति’ (बृ० उप० ४।७) इति । केन पुनरुपायेनायमन्यस्मै कथ्यत इति ? तत्राप्युपाये ब्राह्मणं भवति—‘स एष नेति, नेति, आत्मेति होवाच’ (बृ० उप० ४।३) इति । ‘असावेवंरूपः’ इति न शक्यते निदर्शयितुम् ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण वाक्य भी है—यह वह पुरुष स्वयंज्योति (स्वप्रकाश) है (बृ० उप० ४।७) । तब किस उपाय से इस आत्मा का प्रवचन दूसरे को समझाने के लिए किया जाय ? इस उपाय के विषय में भी ब्राह्मण-वाक्य है—यह आत्मा यह नहीं है, वह नहीं है इत्यादि (बृ० उप० ४।३) । वाक्यों में निषेधात्मक प्रक्रिया से आत्मा को समझने का मार्ग बतलाया गया है—समस्त ज्ञात तथा प्रत्यक्ष पदार्थों के आत्मा होने का (आत्मत्व का) निषेध करके परिशेष-विधि से आत्मा का स्वरूप समझा जाता है ।]

किन्तु ऐसा नहीं बतलाया जा सकता कि आत्मा का यह रूप है [क्योंकि उसका बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता ।]

यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषेधस्तस्य उपदेशोपायः । शरीरं परः पश्यति । तेनात्मोपदिश्यते—शरीरं नास्मास्ति, शरीरादन्य इति । स चात्मेति शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते । तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योऽन्य उपदिश्यते । तथा परस्थाः सुखादयः परेण लिङ्गैरुपलभ्यन्ते । तेषां नात्मान इति तत्प्रतिषेधेनान्य उपदिश्यते । यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुषः—इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्यानुमीयते । यदासौ पुरुषः पूर्वेषु सामिक्कृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यततेऽतः प्रवृत्त्याऽवगम्यते—नूनमसावनित्यान्नित्यमवगच्छतीति ।

आत्मा का स्वरूप बतलाने के लिए जो ‘नेति’ का उपाय प्रदर्शित किया गया है, उसकी व्याख्या की जाती है—[दूसरा व्यक्ति जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करता है, उस वस्तु का प्रतिषेध करने से आत्मा का उपदेश (निर्देश) हो सकता है । दूसरा व्यक्ति किसी के शरीर को देखता है । इससे [शरीर के आत्मत्व का निषेध करके] आत्मा का निर्देश किया जाता है—शरीर आत्मा नहीं है; जो शरीर से भिन्न है, वहाँ आत्मा है—इस प्रकार शरीर का निषेध करके आत्मा का उपदेश होता है ।

इसी प्रकार प्राण आदि भी आत्मा नहीं हैं—इसलिए उनका निषेध करते हुए (‘नेति’ कहकर), उनसे भिन्न या पृथक् तत्त्व के रूप में आत्मा का उपदेश किया जाता है । इसी

प्रकार, दूसरे व्यक्ति में अवस्थित सुख तथा अन्य आन्तरिक पदार्थों का बोध दूसरे लोग विभिन्न चिह्नों (जैसे—मुखपर उल्लास आदि) को देखकर कर लेते हैं। ये सुखादि भी आत्मा नहीं हैं, इस प्रकार इनका निषेध करके, इनसे पृथक् तत्त्व के रूप में आत्मा का उपदेश होता है। अन्त में यह कह सकते हैं कि जो अपने आपको देखता है उससे आत्मा भिन्न नहीं है (अपने आपका साक्षात्कार करनेवाले को ही आत्मा कहते हैं)—इस तथ्य को भी पुरुष की प्रवृत्ति देखकर हम अनुमान द्वारा जान लेते हैं। वह प्रवृत्ति इस प्रकार की है—हम देखते हैं कि पूर्व दिन कोई पुरुष जब किसी काम को आधा ही कर पाता है, तब दूसरे दिन उसे पूरा करने के लिए शेष (बचे हुए) कार्य को सन्तुष्ट करने में लग जाता है—इस पुरुष-प्रवृत्ति से ज्ञात होता है कि निश्चित रूप से वह अनित्य (शरीर, प्राण, सुखादि) पदार्थों से पृथक् नित्य आत्मा का बोध करता है [अथवा वह पुरुष अनित्य पदार्थों की अपेक्षा अपने को नित्य समझता है]।

विशेष—आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस 'नेति' प्रक्रिया का वेदान्त दर्शन में बहुत ऊँचा स्थान है। स्वानुभूति तक पहुँचने के लिए प्रत्यक्षगम्य विषयों का निषेध किया जाता है। जिन-जिन पदार्थों के आत्मा होने का संशय होता है उन सभी पदार्थों का निषेध करने के बाद ही आत्मा के स्वरूप का कुछ भावात्मक निर्णय हो सकता है। अब उपमान के द्वारा आत्मा के निर्देश का विवेचन होगा।

**उपमानाच्चोपदिश्यते। यादृशं भवान्स्वयमात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेनाव-
गच्छ—**अहमपि तादृशमेव पश्यामीति। यथा कश्चिदात्मीयां वेदनां परस्मा आच-
क्षीत, दह्यमानस्येव मे भवति, यात्यमानस्येव मे भवति, रुध्यमानस्येव मे
भवतीति। अतः स्वयमवगम्यमानत्वादस्ति तद्व्यतिरिक्तः पुरुषः इति।

इसके अतिरिक्त, उपमान के द्वारा भी इसी आत्मा का निर्देश हो सकता है। जिस प्रकार आप अपनी आत्मा को देखते हैं, अनुभव करते हैं—इसी उपमान से समझिए कि मैं भी अपनी आत्मा को उसी प्रकार देखता हूँ। इसी रूप में उपमान के द्वारा अन्य संकेत भी प्राप्त होते हैं, जैसे—कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपनी वेदना का वर्णन करता है कि ऐसा लगता है मानो मैं जल रहा हूँ, मानो मुझे यंत्रणा दी जा रही हो अथवा मुझे रोका जा रहा हो। इस प्रकार स्वयं ज्ञायमान होने के कारण (आत्म-साक्षात्कार के कारण) यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान से भिन्न कोई आत्मा नामक सत्ता अवश्य है, जिसे पुरुष भी कहा जाता है।

**यदुच्यते — विज्ञानमपास्य तन्निदृश्यंतामिति। यद्युपायमेव निषेधसि, न शक्य-
मुपायमन्तरेणोपेयमुपेतुम्। अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्थानां यो यथा ज्ञायते
स तथेति। तद्यथा—कः शुक्लो नाम? यत्र शुक्लत्वमस्ति। किं शुक्लत्वं नाम?
यत्र शुक्लशब्दप्रवृत्तिः। क्व तस्य प्रवृत्तिः? यच्छुक्लशब्द उच्चरिते प्रतीयते।**

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि विज्ञान को छोड़कर (उससे भिन्न रूप में) आत्मा को बतलाइए, तो हम इसका उत्तर देंगे कि जब आप उपाय (विज्ञान) का ही निषेध कर देंगे तो उपाय के बिना तो उपेय तक पहुँचना संभव हो नहीं है। [आत्मा के ज्ञान का साधन है स्वानुभूति या ज्ञान। उसे यदि छोड़ देंगे तो आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकेगा।]

सभी ज्ञातव्य विषयों के ज्ञान का यही एक मात्र उपाय है कि हम इस तथ्य को समझें कि जो जैसा ज्ञात होता है, वह वैसा ही है। जैसे प्रश्न है कि 'शुक्ल' किसे कहते हैं? जिसमें शुक्लत्व ही वही शुक्ल है। तब यह शुक्लत्व क्या है? जहाँ शुक्ल शब्द का उच्चारण होता है वहाँ शुक्लत्व है (शुक्ल-शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त)। शुक्ल-शब्द की प्रवृत्ति (उच्चारण) किसके लिए होती है? शुक्ल-शब्द का उच्चारण होने पर जिस अर्थ का बोध होता है, उन्हीं अर्थों में शुक्ल-शब्द की प्रवृत्ति होती है। [इस प्रकार विज्ञान-रूप उपाय से ही विज्ञेय पदार्थ की सिद्धि होती है, यह इस लोकसिद्ध दृष्टान्त से प्रकट होता है।]

तस्मान्न विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद्रूपं निदर्शयितुं शक्यम् । न च नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतीतो भवति । अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सत्यर्थः प्रतीयत एव । न हि विज्ञानं ग्रन्थक्षम्, विज्ञेयोऽर्थः प्रत्यक्ष—इत्येतत्पूर्वमेवोक्तम् । तदवश्य-कृतंव्येऽपह्नवे कामं विज्ञानमपह्नूयेत, नार्थाः—इत्येतदुक्तमेव । तस्मादस्ति सुखादिभ्योऽन्यो नित्यः पुरुष इति ।

इसलिए विज्ञान की उपेक्षा करने पर किसी के रूप का निदर्शन करना सम्भव नहीं है [क्योंकि किसी वस्तु के निर्देश का अर्थ है उसको जानना]। साथ ही, ऐसा कोई नियम (नियोग) भी नहीं है कि ज्ञान के प्रतीत हो जाने पर ही ज्ञातव्य (प्रत्यय=ज्ञान का अर्थ=विषय) भी प्रतीत हो। वस्तुतः ज्ञान की प्रतीति न होने की भी स्थिति में ज्ञेय पदार्थ की प्रतीति हो जाती है।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, जब कि ज्ञेय अर्थ प्रत्यक्ष ही होता है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है। [विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, ज्ञातता-लिंग से युक्त अनुमान द्वारा प्रतीत होता है—किसी व्यक्ति के 'ज्ञातो मया घटः' के प्रयोग से ज्ञातता-धर्म की प्रतीति होती है और तब अनुमान होता है कि उसे ज्ञान हो चुका है। ज्ञातव्य पदार्थ—घट, पटादि—प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होते हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय में अन्तर है।] इसके फलस्वरूप अवश्य कर्तव्य किसी वस्तु की उपेक्षा होने (अस्वीकृति होने) से, उससे सन्बद्ध विज्ञान की भी अवश्य ही उपेक्षा हो जाती है। अर्थों की तो अस्वीकृति नहीं होती—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि सुखादि ज्ञानों से भिन्न [उन ज्ञानों के अधिष्ठाता के रूप में] कोई नित्य पुरुष (आत्मा) है।

अथ यदुक्तम्—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुबिन्ध्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति ।

अत्रोच्यते—'अत्रैव सा भगवान्मोहान्तमापीपदत्' इति परिचोदनोत्तर-कालेऽपह्नूत्य मोहाभिप्रायमस्य वर्णितवान्—'न वा अरे मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा, मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० उप० ४.५) इति । तस्मान्न विज्ञानमात्रम् । तस्माद् वैषम्यम् ।

पूर्वपक्षी ने बृहदारण्यक उपनिषद् से यह वाक्य अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत किया था—इन स्थूल भूत-पदार्थों से ज्ञानमात्र की ही उत्पत्ति होती है और वह पुनः इन्हीं भूतों में प्रविष्ट भी हो जाता है, मृत्यु के अनन्तर किसी प्रकार की चेतना (संज्ञा) नहीं रहती।

इसका उत्तर दिया जाता है—[यह वाक्य वस्तुतः याज्ञवल्क्य के द्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाने के प्रसंग में प्रयुक्त किया गया है। मैत्रेयी ने महर्षि से उनके उपदेश की निन्दा करते हुए कहा था कि] भगवान् ने इसी विषय में मुझे भ्रम में डाल दिया है। इस निन्दावाक्य को सुनकर, भ्रम में डालने की इच्छा (अभिप्राय) को दूर करने के लिए, इसके रहस्य का वर्णन याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया—नहीं, नहीं, मैं भ्रम में डालनेवाला बात नहीं कह रहा हूँ। वास्तव में यह आत्मा अविनाशी है, नाश (उच्छेद, उच्छिष्टि) होना इसका स्वभाव नहीं है। किन्तु नद्वर पदार्थों (मात्रा=इन्द्रियस्पर्श, विषय, पुण्य, पाप आदि) संसर्ग में यह आता है। (बृ० उप० ४।५; शतपथ—माध्य० १।४।७।३।५)। इस पूरे प्रकरण को देखने से यह स्पष्ट होगा कि उपनिषद् का विचार यह नहीं है कि विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है [जैसा कि विज्ञानवादी कहते हैं]।

इस प्रकार आपके विचार में तथा उपनिषद् के पूरे प्रकरण के विचार में विपत्तता है। [आप विज्ञानवादी लोग कहते हैं—विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, वही आत्मा है; दूसरी ओर आपके द्वारा उद्धृत उपनिषद्-वाक्य के पूरे प्रकरण का अर्थ है कि विज्ञान ही एकमात्र सत्ता नहीं है, अपितु उससे भिन्न एक दूसरी सत्ता आत्मा है। विज्ञान की एकमात्र सत्ता तो भ्रममात्र है।]

यदुक्तं—न चैष 'याति' इति विधिशब्द इति। मा भूद् विधिशब्दः। 'स्वर्ग-कामो यजेत' इति वचनान्तरेणावगतमनुवदित्यते। तस्माद्विरोधः ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षी ने यह तर्क दिया था कि ['स एष यज्ञायुधी यजमानोऽसा स्वर्गं लोकं याति' इस ब्राह्मण-वाक्य में] 'याति' (जाता है) यह क्रिया-पद विधि का (प्रवृत्तिबोधक) शब्द नहीं है। इस पर हम उत्तर देंगे कि विधि-शब्द नहीं है तो मत रहे। [प्रत्येक शब्दविधान ही नहीं करता, कुछ शब्द विधिशेष-रूप अर्थवाद भी होते हैं] यहाँ वह शब्द 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना करनेवाले को यज्ञ करना चाहिए)—इस दूसरे वचन से अवगत (ज्ञात) होनेवाले विधि-रूप अर्थ का वह पुनः उल्लेखमात्र करेगा। [भाव यह है कि विधिशेष के रूप में रहकर वह विधि की सहायता करता है। 'यजेत' विधि है उसी की फलश्रुति उस 'याति' में है—'स्वर्गकामो यजेत' में स्थित विधि का ही अनुवाद उसमें है।]

इस प्रकार विधि-प्रत्यय का श्रवण न होने पर भी इस 'याति' क्रिया में कोई विरोध नहीं है ॥ ५ ॥

विशेष—इसके साथ ही पाँचवें सूत्र की लम्बी व्याख्या समाप्त होती है जिसमें वृत्तिकार मत के अनुवाद के व्याज से शबरस्वामी अनेक विषयों पर प्रकाश डालते हैं। अब शब्द के नित्यत्व का विचार करने के लिए अनेक सूत्रों से युक्त छठा अधिकरण आरम्भ करते हैं।

अधिकरण—६ (शब्द की नित्यता)

कर्मके तत्र दर्शनात् ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षी लोग (एके) कहते हैं कि शब्द कर्म (उत्पन्न किया गया कार्य) है क्योंकि [प्रयत्न के बाद] इसे उत्पन्न होते देखते हैं ॥ ६ ॥

उक्तं नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति। तदनुपपन्नम्। शब्दस्यानित्यत्वात्। विनष्टः शब्दः पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थेनाकृतकः संबन्धो नोपपद्यते। नहि प्रथम-

श्रुताच्छब्दात् कश्चिदर्थं प्रत्येति । कथं पुनरनित्यः शब्दः ? प्रयत्नादुत्तरकालं दृश्यते यतः । अतः प्रयत्नानन्तर्यात्तेन क्रियत इति गम्यते ।

नन्वभिव्यञ्ज्यात्स एनम् । नेति ब्रूमः । न ह्यस्य प्रागभिव्यञ्जनात्सद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति । सञ्ज्ञाभिव्यज्यते, नासन् ॥ ६ ॥

[इस सूत्र से आरम्भ करके ग्यारहवें सूत्र तक शब्दनित्यत्व के विरोधी पूर्वपक्षियों का तर्क चलता है ।] ऊपर जो पाँचवें सूत्र में कहा गया है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह बात असम्भव है । कारण यह है कि शब्द अनित्य है । शब्द तो नष्ट होते हुए पाया जाता है, ऐसी स्थिति में जब यह पुनः उत्पन्न (अर्थात् उच्चरित) होता है तब अर्थ के साथ उसका अकृतक (नित्य) सम्बन्ध सम्भव नहीं है ।

कोई व्यक्ति प्रथम बार सुने हुए शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकता । किन्तु स्वयं शब्द को अनित्य कैसे कहेंगे ? इसलिए कि प्रयत्न के बाद शब्द को उत्पन्न होते देखते हैं (पाते हैं) । इसलिए प्रयत्न के अनन्तर होने के कारण यह अनुमान होता है कि उस प्रयास के फलस्वरूप ही शब्द उत्पन्न होता है ।

यह शंका हो सकती है कि यह प्रयत्न पूर्वसिद्ध शब्द को केवल अभिव्यक्त करता होगा । इसपर हम पूर्वपक्षी कहेंगे कि नहीं, अभिव्यक्त होने के पूर्व शब्द की सत्ता की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं है । अभिव्यक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु पहले से ही सत् (वर्तमान) हो—वर्तमान पदार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है, असत् पदार्थ की नहीं ॥ ६ ॥

विशेष—शब्द-नित्यत्व का यह अधिकरण १८ सूत्रों में विस्तृत है (६-२३) । इनमें प्रथम छह सूत्र (६-११) पूर्वपक्ष के हैं, शेष उत्तरपक्ष के हैं जिनमें पूर्वपक्ष की प्रत्येक युक्ति का खण्डन है ।

अस्थानात् ॥ ७ ॥

नो खत्वप्युच्चरितं भूतमप्युपलभामहे । अतो विनष्ट इत्यवगच्छामः । न च सन्नोपलभ्यते । अनुपलम्भकारणानां व्यवधानादीनामभावेऽप्यनुपलम्भनात् । न चासौ विषयमप्राप्तः । आकाशविषयत्वात् । कर्णच्छिद्रेऽप्यनुपलम्भनात् ॥ ७ ॥

पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि अवस्थित न रहने के कारण शब्द अनित्य है ॥ ७ ॥

जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उस उच्चरित शब्द को एक क्षण के लिए भी अवस्थित या स्थिर नहीं पाते हैं । इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शब्द नष्ट हो गया । जो पदार्थ सत् होता है, वह उपलब्ध नहीं होगा—ऐसी बात नहीं हो सकती [अर्थात् शब्द यदि सत् होता तो अवश्य उपलब्ध हुआ करता । इस उपलब्धि के अभाव या अस्थिरता के कारण शब्द के कृतक होने का अनुमान होता है ।] इसका कारण यह है कि अनुपलब्धि के जो कारण व्यवधान (रुकावट) आदि हैं, उनके अभाव में भी शब्द की स्थिरता की उपलब्धि नहीं होती । [शब्द के उच्चारण के बाद शब्द थोड़ी देर के लिए भी उपलब्ध नहीं होता । आप कह सकते हैं कि सत् होने पर भी यह उपलब्ध नहीं होता है । इसका उत्तर है कि नहीं, उपलब्ध नहीं होने के जो-जो कारण होते हैं वे बिल्कुल ही नहीं हैं—फिर कैसे कह सकते हैं कि सत् होने पर भी उपलब्ध नहीं है ? अतः एकमात्र उत्तर है कि शब्द नष्ट हो गया है, वर्तमान नहीं है ।]

आप (सिद्धान्ती) यह भी नहीं कह सकते कि [शब्द की उपलब्धि इसलिए नहीं हो पा रही है कि] वह अपने विषय को नहीं पहुँच सका है जहाँ जाने पर इसकी उपलब्धि होती है । कारण यह है कि शब्द का विषय आकाश है जो सर्वव्यापक है । [इसलिए अपने विषय या अधिष्ठान तक शब्द को नहीं पहुँचने का प्रश्न ही नहीं । फिर भी शब्द अपने उच्चारण के क्षणभर बाद ही ने कर्ण-कुहर में भी उपलब्ध नहीं होता—सामान्य आकाश की तो बात ही क्या है ? ॥ ७ ॥

करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥

अपि च, शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः' इति व्यवहर्तारः प्रयुज्यन्ते । न ते नूनमवगच्छन्ति—स एवायं शब्द इति ॥ ८ ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि शब्द के साथ 'करोति' (उत्पन्न करता है) क्रिया के प्रयोग के कारण भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

शबर इसकी व्याख्या करते हैं कि शब्द करो, शब्द मत करो—इस प्रकार भाषा-प्रयोग करनेवाले कहते पाये जाते हैं । निश्चित रूप से वे यह नहीं अनुभव करते हैं कि यह वह शब्द है (जो अभी तक स्थिर है) ॥ ८ ॥

सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥ ९ ॥

नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे । तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नमिति । असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम् । कार्याणां तु बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामुपपद्यतेऽनेकदेशसम्बन्धः । तस्मादप्यनित्यः ॥ ९ ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि विभिन्न स्थानों में एक ही साध्र (समकाल, युगपत्) शब्द की उपलब्धि होने के कारण भी [शब्द अनित्य है] ॥ ९ ॥

हम एक ही समय में शब्द की उपलब्धि विभिन्न स्थलों में करते हैं । यदि शब्द एक तथा नित्य होता तो उपर्युक्त बात असंभव होती । जब तक कोई विशेष बात न हो तब तक किसी भी नित्य पदार्थ का अनेक होना असंभव है । इसलिए जो पदार्थ कार्य (उत्पाद्य, अनित्य) के रूप में हैं वे अनेक होते हैं; वे विभिन्न देशों में किये जाते (उत्पन्न होते) हैं, इसलिए अनेक देशों से उनका संबन्ध होना संभव होता है । इसलिए भी शब्द अनित्य है । [शब्द को नित्य माननेवालों को शब्द का एकत्व सिद्ध करना आवश्यक है किन्तु विभिन्न देशों (स्थानों) में युगपत् शब्दोपलब्धि होने के कारण एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में अनेकत्व के कारण शब्द कृतक या उत्पाद्य (कार्य) सिद्ध होता है, क्योंकि कार्य होने पर ही अनेक स्थलों से इसका सम्बन्ध हो सकेगा ।] ॥ ९ ॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥ १० ॥

अपि च, 'दध्यत्र' इत्यत्र इकारः प्रकृतिः, यकारो विकृतिरित्युपदिशन्ति । यद्विक्रियते, तदनित्यम् । इकारसादृश्यं च यकारस्योपलभ्यते, तेनापि तयोः प्रकृति-विकारभावो लक्ष्यते ॥ १० ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि शब्द में प्रकृति (मूल रूप) तथा विकृति (परिवर्तित रूप) होने के कारण भी [अनित्यता सिद्ध होती है] ॥ १० ॥

दधि+अत्र से रंधि-कार्य करने पर बने हुए शब्द 'दध्यत्र' में दधि का इकार प्रकृति (मूल रूप) है, यकार विकृति (परिवर्तित रूप) है—ऐसा वैयाकरणों का उपदेश है। इ का विकार य के रूप में हुआ है—इसलिए जो पदार्थ विकृत या परिवर्तित होता है, वह वास्तव में अनित्य होता है। पुनः हम भी देखते हैं कि इ तथा य में ध्वनि का साम्य मिलता है—इससे भी प्रकट होता है कि उन दोनों के बीच प्रकृति-विकृति-सम्बन्ध है। [अनित्य का अर्थ है स्थिर न होना। जब इ को हम य के रूप में विकृत होते हुए पाते हैं तब निश्चित रूप से इ की अस्थिरता सिद्ध होती है। जैसे दुग्धादि पदार्थ विकारशील होने के कारण अस्थिर या अनित्य हैं; वैसे ही शब्द भी विकारशीलता के ही कारण अनित्य हैं।] ॥ १० ॥

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥

अपि च बहुभित्त्वाचार्यद्विर्भेदान् शब्दः श्रूयते। स यद्यभिव्यज्यते, बहुभिरूपेणोच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत। (यतो महानुपलभ्यते) अतो मन्यामहे—नूनमस्यैकैकेन कश्चिदवयवः क्रियते, यत्प्रचयादयं महानुपलभ्यते ॥ ११ ॥

पूर्वपक्षी अन्तिम रूप से कहता है कि शब्द को उत्पन्न करनेवाले लोगों की अनेकता के कारण (भूम्ना, भूमन् = अनेकता; बहु+इमनिच्) शब्द में वृद्धि आती है (ध्वनि प्रबल होती है)। इसलिए भी शब्द अनित्य है।] ॥ ११ ॥

हम देखते हैं कि जब शब्द का उच्चारण अनेक व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है तब बहुत अधिक ध्वनि होने लगती है। [कीर्तन आदि के उदाहरणों में प्रत्येक व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी ध्वनि करता है किन्तु सबों के उच्चारण का संयुक्त फल बहुत प्रबल ध्वनि के रूप में प्रकट होता है।] यदि नित्य शब्द की अभिव्यक्ति हुआ करती तो उच्चारण करनेवालों की संख्या अधिक हो या कम—सभी स्थितियों में उतने ही प्रबल शब्द की उपलब्धि होती, [कम या अधिक प्रबल शब्द की नहीं। जैसे पूर्वसिद्ध घट को अभिव्यक्त करनेवाले दीपकों की संख्या एक हो या सहस्र, घट के आकार-प्रकार में वृद्धि नहीं होती, घट वैसा-का-वैसा ही रहता है—उसी प्रकार अभिव्यक्त शब्द में यथापूर्व स्थिति रहती।]

इस स्थिति से हम निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रत्येक उच्चारणकर्ता के द्वारा शब्द का कोई-न-कोई अवयव उत्पन्न किया जाता है जिनका प्रचय अर्थात् संघात हो जाने पर शब्द में अधिकता आ आती है [= बहुत प्रबल ध्वनि होती है] ॥ ११ ॥

समं तु तत्र दर्शनम् ॥ १२ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तं—प्रयत्नादुत्तरकाले दर्शनात् कृतकोऽयमिति। यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्यामः, ततो नित्य-प्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यत इति भविष्यति। यदि प्रागुच्चारणादनभिव्यक्तः, प्रयत्नेनाभिव्यज्यते। तस्मादुभयोः पक्षयोः सममेतत् ॥ १२ ॥

उत्तरपक्षी कहता है कि प्रयत्न के बाद शब्द के प्राप्त होने की स्थिति तो [हमारे शब्दनित्यत्व-पक्ष में भी] समान रूप से होती है ॥ १२ ॥

सूत्र में स्थित 'तु' शब्द का प्रयोग निर्दिष्ट करता है कि पक्ष परिवर्तित हो रहा है (पूर्वपक्ष की समाप्ति तथा उत्तर-पक्ष का आरम्भ हो रहा है)। पष्ठ सूत्र में पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि प्रयत्न करने के अनन्तर शब्द की उपलब्धि होने के कारण वह कृतक है। किन्तु यदि हम अत्यधिक स्पष्ट कारण या युक्ति से शब्द की नित्यता की सिद्धि कर दें तो नित्यत्व के इस ज्ञान के सामर्थ्य के आधार पर ऐसा निष्कर्ष सही रूप में हो सकता है कि शब्द प्रयत्न के द्वारा [उत्पन्न नहीं, अपितु] अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यदि उच्चारण के पूर्व शब्द अभिव्यक्तावस्था में नहीं है तो प्रयत्न करने से अभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए प्रयत्न द्वारा शब्द के उपलब्ध होने की बात तो दोनों ही पक्षों में समान रूप से पायी जा सकती है—[चाहे शब्द को नित्य मानें या कृतक मानें] ॥ १२ ॥

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥ १३ ॥

यदपरं कारणमुक्तम्—उच्चरितप्रध्वस्त इति। अत्रापि यदि शक्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुम्, ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलम्भं कदाचिदनुपलम्भं दृष्ट्वा किञ्चिदुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः। तच्च संयोगविभागसद्भावे सति भवतीति संयोगविभागावेवाभिव्यञ्जकाविति वक्ष्यामः।

[उच्चारण के क्षणभर बाद] सत् होने पर भी शब्द की जो उपलब्धि नहीं होती है उसका कारण यह है कि [अभिव्यञ्जक पदार्थ] विषय तक पहुँच नहीं पाते ॥ १३ ॥

यह जो पूर्वपक्षी ने शब्द के कृतक होने का दूसरा कारण (सप्तम सूत्र में) दिया था कि शब्द उच्चरित होने के बाद नष्ट हो जाता है, [उसका उत्तर हम इस प्रकार देंगे।] इस स्थान पर भी यदि हम शब्द की नित्यता की सिद्धि स्पष्ट रूप से करने में समर्थ हो जायें तो उसी नित्यता के ज्ञान के बल पर, शब्द की कभी-कभी उपलब्धि तथा कभी-कभी अनुपलब्धि देखकर उसकी उपलब्धि के किसी-न-किसी निमित्त की कल्पना हम अवश्य ही कर लेंगे। [शब्द का सुनाई पड़ना और कभी सुनाई न पड़ना—ये दोनों प्रत्यक्ष घटनाएँ हैं। इनके कारण अवश्य होंगे जिनके होने पर शब्द सुनाई पड़ता है और न होने पर वह सुनाई नहीं पड़ता। हम दूसरे कारण से शब्द की नित्यता की सिद्धि करेंगे तथा इस सुनाई पड़ने के कारण की भी खोज कर लेंगे। शब्द की नित्यता मानते हुए भी उसके सुनाई पड़ने के लिए कुछ-न-कुछ अभिव्यञ्जक मानना ही पड़ेगा—क्योंकि अभिव्यञ्जक के अभाव में वह सुना नहीं जा सकेगा।]

हम पाते हैं कि शब्द की वह उपलब्धि (सुनाई पड़ना) संयोग तथा विभाग के होने पर ही (=स्वर-लहरों के रूप में संयोग तथा विभाग) होती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग तथा विभाग होते हैं। ऐसा हम कहेंगे।

उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयत इति चेत्। नेतदेवम्। न नूनमुपरमन्ति संयोगविभागाः। यत उपलभ्यते शब्द इति, न हि ते प्रत्यक्षा इति।

यदि शब्दं संयोगविभागा एवाभिव्यञ्जन्ति, न कुर्वन्ति; आकाशविषयत्वाच्छब्दस्य, आकाशस्यैकत्वाद्, य एवायमत्र श्रोत्राकाशः स एव देशान्तरेष्वपीति—स्रुघ्नस्यैः संयोगविभागैरभिव्यक्तः पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत।

यहाँ पूर्वपक्षी प्रदन कर सकता है कि शब्द तो तब सुनाई पड़ता है जब संयोग तथा विभाग समाप्त हो गये रहते हैं, [तब संयोग-विभाग को शब्द का अभिव्यञ्जक आप कैसे मानते हैं ?] हम कहेंगे कि ऐसी बात नहीं है। वास्तव में संयोग और विभाग समाप्त या विरत नहीं होते। यह हम इसीलिए कह रहे हैं कि शब्द तो वस्तुतः सुनाई पड़ रहा है [इसलिए संयोग-विभाग का समाप्त होना असम्भव है]। इतनी बात अवश्य है कि वे (संयोग-विभाग) दिखलाई नहीं पड़ रहे हैं। [इसी से आप लोगों को लगता है कि वे समाप्त हो गये हैं।]

पूर्वपक्षी—यदि शब्द को संयोग तथा विभाग ही अभिव्यक्त-मात्र करते हैं, उत्पन्न नहीं करते हैं तो स्रुघ्न (एक प्रसिद्ध प्राचीन नगर) में स्थित संयोग-विभाग के द्वारा अभिव्यक्त शब्द पाटलिपुत्र में भी उपलब्ध होने लगेगा। इसका कारण यह है कि शब्द का आधार आकाश है और आकाश सभी स्थानों के लिए एक ही होता है—जो श्रोत्राकाश इस स्थान पर है, वही दूसरे स्थानों पर भी होगा। [इस प्रकार संयोग-विभाग को शब्द का अभिव्यञ्जक मानने में असंगति होगी।]

यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य वायव्याः संयोगविभागा वाय्वाश्रितत्वाद् वायुष्वेव करिष्यन्ति। यथा तन्तवस्तन्तुष्वेव पटम्। तस्य पाटलिपुत्रेणुपलम्भो युक्तः, स्रुघ्नस्यत्वात्तेषाम्।

‘यस्याप्यभिव्यञ्जन्ति, तस्याप्येष न दोषः। दूरे सत्याः कर्णशङ्कुल्या अनुपकारकाः संयोगविभागास्तेन दूरे यच्छ्रोत्रं तेन नोपलभ्यत इति’।

हमारे पक्ष में यह असंगति नहीं होगी। हम मानते हैं कि संयोग तथा विभाग शब्द को उत्पन्न करते हैं। इसलिए वायु में रहनेवाले संयोग-विभाग, वायु पर आश्रित रहने के कारण वायु में ही शब्द को उत्पन्न करेंगे। जैसे तन्तु पट की उत्पत्ति तन्तुओं में ही करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यही एकमात्र सत्य होगा कि शब्द पाटलिपुत्र में सुनाई नहीं पड़ेगा, क्योंकि शब्द के उत्पादक संयोग-विभाग तो स्रुघ्न में स्थित हैं (स्रुघ्न की वायु-तरंगों में शब्द उत्पन्न हुआ है तो वह पाटलिपुत्र में नहीं ही सुनाई पड़ सकता)।

सिद्धान्ती यह कह सकते हैं कि जो लोग संयोग-विभाग के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति का पक्ष स्वीकार करते हैं, उनके पक्ष में भी यह दोष या असंगति नहीं होगी—क्योंकि एक स्थान में कार्य करनेवाले संयोग-विभाग दूसरे स्थान में वर्तमान कर्ण-कुहर को प्रभावित नहीं कर पाते (अनुपकारकाः)। इसलिए दूरवर्ती श्रोत्रेन्द्रिय दूसरे स्थान में अभिव्यक्त शब्द का ग्रहण नहीं कर पाती।

नैतदेवम्। अप्राप्ताश्चेत्संयोगविभागाः श्रोत्रस्योपकुर्वुः। सन्निकृष्टविप्रकृष्ट-देशस्थौ युगपच्छब्दमुपलभेयाताम्। न च युगपदुपलभेते। तस्मान्नाप्राप्ता उप-कुर्वन्ति। न चेदुपकुर्वन्ति। तस्मादनिमित्तं शब्दोपलम्भने संयोगविभागाविति।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। [संयोग तथा विभाग कर्णकुहर में वस्तुतः पहुँचकर उसे प्रभावित करेंगे या बिना पहुँचे हुए ही। चूँकि संयोग-विभाग शब्द के उत्पत्ति-स्थान में उत्पन्न होते हैं, इसलिए कर्णकुहर तक पहुँचना उनके लिए सम्भव नहीं है। अब सिद्धान्ती के समक्ष एकमात्र विकल्प रह जाता है कि कर्णकुहर तक बिना पहुँचे ही संयोग-

विभाग उसे प्रभावित या उपकृत करते हैं ।] अब यदि कान तक बिना पहुँचे ही संयोग-विभाग उस इन्द्रिय को उपकृत करते हैं तो एक अन्य असंगति होगी—जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है उसके निकटवर्ती देश में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय को ठीक उसी समय शब्द का ग्रहण होगा, जिस समय उससे दूरवर्ती स्थान में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय को होगा । किन्तु दोनों (निकट और दूर के कर्णेन्द्रिय) को एक ही समय में शब्द की उपलब्धि नहीं होती । इससे हम (पूर्वपक्षी) निष्कर्ष निकालते हैं कि बिना प्राप्त किये (पहुँचे बिना) संयोग-विभाग कर्णेन्द्रिय का उपकार नहीं करते ।

यदि आप [इन कठिनाइयों से बचने के लिए] कहें कि संयोग-विभाग कर्णेन्द्रिय का बिल्कुल ही उपकार नहीं करते हैं तो इससे स्पष्टतः निष्कर्ष निकलेगा कि संयोग तथा विभाग शब्द की उपलब्धि के कारण बिल्कुल ही नहीं हैं जो विषम असंगति होगी । [इस प्रकार पूर्वपक्षी अपने इस लम्बे विवेचन में यह सिद्ध करता है कि संयोगविभाग शब्दोपलब्धि के कारण नहीं हैं; यदि कारण भी हैं तो वे उत्पादक हैं, अभिव्यञ्जक नहीं । इसलिए शब्द उच्चरित होने के बाद नष्ट हो जाता है, अर्थात् कृतक है ।

नैतदेवम् । अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रति-
बाधमानाः सर्वतोदिवकान् संयोगविभागान् उत्पादयन्ति । यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते ।
ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् संयोगविभागा नोपलभ्यन्ते । अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द
उपलभ्यन्ते, नोपरतेषु । अतो न दोषः । अत एव चानुवातं दूरादुपलभ्यते
शब्दः ॥ १३ ॥

सिद्धान्ती इन सबों का उत्तर देते हुए कहता है कि ऐसी बात नहीं है । वस्तुतः होता यह है कि ध्वनि को उत्पन्न करनेवाले अभिघात से वायु के कुछ अंश प्रेरित होते हैं तथा वे वायु के दूसरे स्थिर अंशों को आघात पहुँचाते हैं । पुनः वे सभी दिशाओं में संयोग-विभाग (अर्थात् लहर या कम्पन) उत्पन्न करते हैं । इनमें जब तक वेग रहता है, ये बढ़ते चले जाते हैं । वायु के स्वयम् अप्रत्यक्ष होने के कारण वायु में उत्पन्न होनेवाले ये संयोग-विभाग (लहरें या कम्पन) भी उपलब्ध नहीं होते हैं । जब तक ये कम्पन (संयोग-विभाग) चलते जा रहे हैं (अनुपरत हैं) तभी तक शब्द भी उपलब्ध होता है, कम्पन के उपरत हो जाने पर शब्द की उपलब्धि नहीं होती । इसलिए किसी प्रकार की असंगति नहीं है । यही कारण है कि अनुकूल वायु रहने पर (शब्द के उत्पत्ति स्थान की ओर से श्रवण-स्थान की ओर वायु चलने पर) शब्द बहुत दूर तक सुनाई पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥

यदपरं कारणमुक्तं—‘शब्दं कुरु, मा कार्षीरिति व्यवहर्तारः प्रयुञ्जते ।’
यद्यसंशयं नित्यः शब्दः, ‘शब्दप्रयोगं कुरु’ इति भविष्यति । यथा गोमयान्कुर्विति
संवाहे ॥ १४ ॥

[‘करोति’ क्रिया से सम्बद्ध] जो दूसरी युक्ति है वह प्रयोग का बोध कराती है ॥ १४ ॥

पूर्वपक्षी ने अष्टम सूत्र में शब्द की अनित्यता के पक्ष में यह कारण दिया था—‘शब्द करो या मत करो’ ऐसा प्रयोग लोग करते हैं । किन्तु जब बिना किसी संदेह के शब्द को

नित्य सिद्ध कर दिया जायेगा, तब इस 'शब्द करो' का अर्थ होगा—शब्द का प्रयोग करो। ['कुरु' का अर्थ 'उत्पन्न करो' न होकर 'प्रयोग करो' है।] उदाहरण के लिए—'गोमयान्कुरु' (गोबर जमा करो) इस वाक्य में 'कुरु' शब्द संग्रह करने का बोध कराता है ॥ १५ ॥

आदित्यवद्योगपक्षम् ॥ १५ ॥

यत्तु—एकदेशस्य सतो नानादेशेषु युगपद् दर्शनमनुपपन्नमिति । आदित्यं पश्य देवानां प्रिय ! एकः सन्नैकदेशावस्थित इव लक्ष्यते । कथं पुनरवगम्यत एक आदित्य इति ? उच्यते—प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाह्णे सम्प्रति पुरस्तादादित्यं पश्यति । तस्य दक्षिणतोऽवस्थितो न द्वौ पश्यति । आत्मनश्च सम्प्रति न तिरश्चीनं देवदत्तस्याजंवे । तस्मादेक आदित्य इति । दूरत्वादस्य देशो नावधार्यते । अतो व्यामोहः । एवं शब्देऽपि व्यामोहादनवधारणं देशस्य ।

सूर्य के समान शब्द भी विभिन्न स्थानों में एक ही समय में रह सकता है ॥ १५ ॥

पूर्वपक्षी ने नवम सूत्र में कहा था—एक ही पदार्थ किसी एक स्थान में यदि अवस्थित है तो विभिन्न स्थानों में एक ही समय में उसका पाया जाना असंभव है । [इसके आधार पर पूर्वपक्षी ने शब्द की अनेकता सिद्ध करते हुए उसे अनित्य बतलाया था ।] इसका उत्तर हम इस प्रकार देंगे—अरे मुख ! आदित्य को तो देखो । वह एक रहने पर भी अनेक स्थानों में अवस्थित-सा दिखलाई पड़ता है ।

आप कैसे जानते हैं कि आदित्य एक ही है ? सुनिष्ट, हम बतलाते हैं—पूर्व मुख किंचे हुए देवदत्त पूर्वाह्निकाल में इस समय सूर्य को अपने सामने देख रहा है । एक दूसरा व्यक्ति जो देवदत्त के दाहिने अवस्थित है, दो सूर्य नहीं देखता—जिनमें एक सूर्य तो ठीक उसके सामने रहे और दूसरा उस व्यक्ति के तिरछे, किन्तु वह देवदत्त के ठीक सामने रहेगा । [वस्तुतः वह व्यक्ति भी उसी सूर्य को देखता है जिसे देवदत्त देख रहा है । विन्ध्याचल में स्थित हों या हिमाचल में—सभी लोगों को अपने पूर्वभाग में ही उगता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ता है । इससे सिद्ध होता है कि सूर्य एक ही है ।

किन्तु यह बात अवश्य है कि दूरी के कारण सूर्य के निश्चित स्थान का निर्णय नहीं हो सकता । इसीलिए भ्रम होता है [कि हमारे समक्ष जो सूर्य है वही दक्षिण दिशा में भी होगा क्या ?] । इसी प्रकार शब्द के विषय में भी उसके स्थान का निर्धारण भ्रम के कारण ही नहीं हो पाता [और हम समझने लगते हैं कि नाना स्थानों में शब्दों की पृथक्-पृथक् उपलब्धि हो रही है] ।

यदि श्रोत्रं संयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि तावदनेकदेशता कदाचिदवगम्येत । न च तत्संयोगदेशमागच्छति । प्रत्यक्षा हि कर्णशङ्कुली तद्देशा गृह्णते । वायवीयाः पुनः संयोगविभागा अप्रत्यक्षस्य वायोः, कर्णशङ्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्त—इति नानुपपन्नम् । अतएव व्यामोहो यन्नानादेशेषु शब्द इति । आकाशदेशश्च शब्द इति । एकं च पुनराकाशम् । अतोऽपि न नानादेशेषु ।

अपि च, ऐकरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्नाः, न तु शब्दः । तस्मादयमप्यदोषः ॥ १५ ॥

यदि श्रोत्रेन्द्रिय संयोग तथा विभाग के स्थल पर (वक्ता के मुख के निकट) आकर शब्द का ग्रहण करती तभी हमारे लिए ऐसा संभव था कि हम शब्द को अनेक स्थलों में अवस्थित जानते । किन्तु यह तो व्यवहार सिद्ध है कि श्रोत्रेन्द्रिय संयोग-विभाग के स्थल पर नहीं जाती । हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय का प्रदेश कर्ण-शङ्कुली (कान के भीतर का शून्य स्थान) ही है ।

पुनः ये वायवीय संयोग-विभाग (कम्पन) वायु में होते हैं जो स्वयं प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है । इस प्रकार जब वे कर्णकुहर में उत्पन्न होते हैं और उन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तभी तो यह भ्रम होता है कि सुनाई पड़नेवाला शब्द किसी ऐसे स्थान में वर्तमान है जहाँ से संयोग-विभाग अर्थात् (कम्पन) आरम्भ हुए हैं । किन्तु वस्तुतः वह श्रूयमाण शब्द कर्णशङ्कुली-प्रदेश में ही है ।] इस प्रकार हमारे इस सिद्धान्त में कोई असंगति नहीं है । इसलिए विभिन्न प्रदेशों में जो शब्द की सत्ता की धारणा बनी रहती है—वह वस्तुतः भ्रम है । पुनः वास्तव में शब्द का स्थान आकाश है और वह आकाश एक ही है । इस युक्ति से भी कह सकते हैं कि शब्द विभिन्न देशों (स्थानों) में नहीं रहता ।

इसके अतिरिक्त जब शब्द के एकरूप होने की बात सिद्ध हो जाती है तब ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों में शब्द के सुने जाने का अर्थ होता है—देशों का भिन्न-भिन्न होना, यह बात नहीं कि शब्द ही भिन्न या अनेक हैं । इस कारण से यह सिद्धान्त भी असंगत नहीं है [कि शब्द विभिन्न स्थानों में सुना जाता है] ॥ १५ ॥

वर्णान्तरमविकारः ॥ १६ ॥

न च 'दध्यत्र' इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः । शब्दान्तरमिकाराद् यकारः । न हि यकारं प्रयुञ्जाना इकारमुपाददते । यथा कटं चिकीर्षन्तो वीरणानि । न च सादृश्यमात्रं दृष्ट्वा प्रकृतिविकृतिर्वोच्यते । न हि दधिपिटकं दृष्ट्वा कुन्दपिटकं च प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते । तस्मादयमप्यदोषः ॥ १६ ॥

[सन्धि में इकार का यकार में परिवर्तित होना वस्तुतः] विकार नहीं है, अपितु दूसरा ही वर्ण है ॥ १६ ॥

'दध्यत्र' शब्द में इ का य् के रूप में जो परिवर्तन प्रतीत होता है वह वस्तुतः प्रकृति-विकृति का सम्बन्ध नहीं है । इ दूसरी ध्वनि है और यकार दूसरी; [दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं] । जो व्यक्ति यकार का प्रयोग करते हैं वे उसके कारण या प्रकृति के रूप में इ का ग्रहण नहीं करते, जिस प्रकार चटाई बनाने की इच्छा रखनेवाले वीरण (खस-घास की जड़) का ग्रहण करते हैं । [यदि दोनों वर्णों के बीच प्रकृति-विकृतिसम्बन्ध होता जैसा कि खस और चटाई में, या तन्तु और पट में होता है—तो विकृति या कार्य का प्रयोग करनेवाले लोग प्रकृति का उपादान अवश्य करते । किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए इ तथा य् एक-दूसरे की प्रकृति-विकृति नहीं हैं, अपितु दोनों दो भिन्न ध्वनियाँ हैं ।]

किन्हीं दो पदार्थों के बीच ईषद सादृश्य देखकर ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वे प्रकृति या विकृति हैं । उदाहरण के लिए दही के पात्र और कुन्द-पुष्पों के पात्र के बीच उज्ज्वलता की समानता-देखकर यह नहीं जाना जा सकता कि उनके बीच प्रकृति-विकृति

भाव है। इस प्रकार हमारे सिद्धान्त में किसी प्रकार का दोष नहीं है (=रह आक्षेप भी दोषावह नहीं है) ॥ १६ ॥

नादवृद्धिपरा ॥ १७ ॥

यच्चैतद् बहुभिर्भेरीमाघमद्भिः शब्दमुच्चारयद्भिर्महान् शब्द उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते । नैवम् । निरवयवो हि शब्दः । अवयव-भेदानवगमाग्निरवयवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः । अतो न वर्धते शब्दः ।

[थोड़ी-थोड़ी ध्वनि मिलकर] जो वृद्धि या प्रबलता होती है वह वस्तुतः नाद की वृद्धि है [शब्द की नहीं] ॥ १७ ॥

पूर्वपक्षी ने १२वें सूत्र में कहा था कि अनेक व्यक्तियों के द्वारा नगाड़े को बजाने से या किसी शब्द का उच्चारण करने से अत्यधिक प्रबल ध्वनि उपलब्ध होती है, इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक पुरुष के [नगाड़ा बजाने से या शब्द का उच्चारण करने से] शब्द के अवयवों का संघात हो जाता है। इसका हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द अवयवहीन है। यह इसलिए कहा जा रहा है कि शब्द के अवयवों के भेद का बोध हमें नहीं होता है। अब उसके अवयवहीन होने के कारण शब्द का महान् (प्रबल) होना असम्भव है। इसलिए शब्द की वृद्धि नहीं होती। [वैशेषिकों ५. अनुसार महत्त्व परिमाण का भेद है—यह महत्परिमाण केवल सावयव पदार्थ का ही होता है, निरवयव का नहीं। शब्द चूँकि निरवयव है, अतः इसका महत्परिमाण नहीं हो सकता।]

मृदुरेकेन, बहुभिश्चोच्चार्यमाणे तान्येवाक्षराणि कर्णशृङ्गुलीमण्डलस्य सर्वा-
नेमि व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैर्नैरन्तर्येणानेकशो ग्रहणान्महानिवावयववान् इवोप-
लभ्यन्ते । संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्द-
वाच्याः । तेन नादस्येषा वृद्धिः, न शब्दस्येति ॥ १७ ॥

शब्द के उच्चारण में बात यह होती है कि जब इसका उच्चारण किसी एक व्यक्ति के द्वारा होता है तब ध्वनि मृदु (कोमल) होता है। किन्तु जब अनेक लोग मिलकर उस शब्द का उच्चारण करते हैं तब वे ही (कोमल लगनेवाले) अक्षर, कर्ण-कुहर के पूरे मण्डल या स्थान को व्याप्त करनेवाले संयोग-विभागों (लहरों) की निरन्तरता के कारण अनेक बार ग्रहण होने से महत्परिमाण से युक्त जैसे तथा अवयवों के जैसे प्रतीत होते हैं। [किन्तु वस्तुतः न तो अवयव ही हैं, न महत्परिमाण ही।]

वास्तव में संयोग तथा विभाग जब निरन्तर उत्पन्न किये जाते हैं और वे शब्द को अभिव्यक्त करते हैं तब वे 'नाद' शब्द से अभिहित होते हैं। इसलिए यह वृद्धि नाद की ही होती है, शब्द की नहीं ॥ १७ ॥

विशेष—उत्तरपक्षी अभी तक पूर्वपक्षियों के द्वारा दी गयी युक्तियों का खण्डन कर रहे थे, अब वे शब्द-नित्यत्व के पक्ष में कुछ युक्तियाँ दे रहे हैं।

नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ १८ ॥

नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणं, तत्परार्थम्; परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि त्वनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यार्थः

प्रत्याययितुं शक्नुयात् । अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश
उपलब्धत्वादर्थविगम इति युक्तम् ।

वास्तव में शब्द नित्य ही होता है क्योंकि इसका उच्चारण (दर्शन) दूसरों के लिए होता है ॥ १८ ॥

शब्द अवश्य ही नित्य होना चाहिए । क्यों ? इसलिए कि उसका दर्शन (=उच्चारण) दूसरों के लिए होता है । दर्शन का अर्थ है उच्चारण । वह दूसरों के लिए अर्थात् दूसरों को अर्थ का बोध कराने के लिए होता है । यदि शब्द उच्चरित होने के साथ ही नष्ट हो जाये तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अर्थ का बोध नहीं करा सकेगा । ऐसी स्थिति में शब्द का उच्चारण दूसरे व्यक्ति के लिए नहीं हो सकेगा ।

इसके विपरीत यदि हम मानें कि उच्चरित होने के बाद शब्द नष्ट नहीं हुआ है, तब तो यह कहना बिल्कुल युक्तिसंगत होगा कि बार-बार उपलब्ध होने (सुने जाने) के कारण उसी शब्द से अर्थ का बोध होता है ।

अर्थवत्सादृश्यादर्थविगम इति चेत् न—कश्चिदर्थवान्, सर्वेषां नवत्वात् । कस्यचित्पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत् । तदुक्तम् । सदृश इति चावगते व्यामोहात् प्रत्ययो व्यावर्तते । शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव ।

पूर्वपक्षी कहता है कि सार्थक शब्द के समान होने के कारण नश्वर (उच्चरित-विनष्ट) शब्द से भी अर्थ का बोध हो जाता है । [सिद्धान्तवादी के समान एक ही शब्द मानने की आवश्यकता नहीं है । जो शब्द नष्ट हो चुका वह सार्थक था—उसके सादृश्य के आधार पर दूसरे उपस्थित शब्द का भी अर्थ लग जायेगा । ' इस प्रकार शब्द भिन्न हैं किन्तु सदृश हो सकते हैं ।]

उत्तरपक्षी कहता है कि वैसी परिस्थिति में तो कोई शब्द सार्थक हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि सभी शब्द नये ही रहेंगे । [इसलिए सार्थक शब्द के सादृश्य का प्रश्न ही नहीं होगा ।] अब पुनः पूर्वपक्षी कहता है कि कोई पूर्वकालीन शब्द रहा होगा जिसका अर्थ के साथ कृत्रिम सम्बन्ध होगा [तथा उस शब्द के सादृश्य से ही अनुवर्ती शब्दों में अर्थ का बाध होता रहेगा—जो अर्थ प्रथम शब्द का था, वही अनुवर्ती शब्दों का भी रहेगा ।] हम इस आशंका का उत्तर ऊपर पंचम सूत्र की व्याख्या में दे चुके हैं [कि शब्द का अर्थ के साथ कृत्रिम सम्बन्ध नहीं हो सकता, ऐसा होना असम्भव है] । पुनः सादृश्य के आधार पर यदि शब्द का अर्थ होने लगे तो भ्रम (व्यामोह) के कारण सर्वत्र अयथार्थ ज्ञान होने का सम्भावना बनी रहेगी तथा सभी ज्ञानों का परवर्ती काल में बाध होने लगेगा । जैसे शाला शब्द से यदि सादृश्य के आधार पर (चूँकि शाला तथा माला सदृश शब्द हैं) माला का ज्ञान हो, तो ऐसा ज्ञान निश्चित रूप से अयथार्थ है जिसका बाध या निषेध हो सकता है ।

यथा गावीशब्दात्सास्नादिमति प्रत्ययस्यानिवृत्तिः, तद्वद् भविष्यतीति चेत् । न हि; गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा । नेहान्यशब्दोच्चचारयिषा । न चैकेनोच्चारणयत्नेन संव्यवहारश्चार्थसंबन्धश्च शक्यते कर्तुम् । तस्माद् दर्शनस्य परार्थत्वा-
नित्यः शब्दः ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि जैसे गो-शब्द के सदृश (अपभ्रंश-शब्द) 'गावी' से भी सत्त्वा (गले में लटकटा मांसपट, गलकन्धल) आदि अवयवों से युक्त प्राणी का ज्ञान होता है, इस ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती—उसी प्रकार यहाँ भी सादृश्य के आधार पर (एक पूर्व शब्द के सदृश, दूसरा अनुवर्ती शब्द होने के कारण) शब्द का अर्थ होता होगा। [पूर्वकाल में घट-शब्द का श्रवण करने पर जो अर्थ गृहीत हुआ था, वही अर्थ पुनः घट शब्द का श्रवण करने पर होगा क्योंकि दोनों शब्द सदृश हैं। इस प्रकार के ज्ञान के बाधित होने का प्रश्न नहीं होगा।]

हम उत्तर में कहेंगे कि नहीं, उस स्थल में वस्तुतः 'गावी' शब्द का उच्चारण करने में वक्ता शुद्ध शब्द 'गो' का उच्चारण करना चाहता है [और चूँकि वह वक्ता अज्ञानी तथा असमर्थ है, इसलिए अपभ्रंश-शब्द 'गावी' का प्रयोग करता है। कोई श्रोता यदि 'गो' के स्थान पर प्रयुक्त 'गावी' (अपभ्रंश-शब्द) से भी गौ के वाच्यार्थ का बोध कर लेता है तो यह भी अज्ञान एवम् असमर्थ्य के कारण ही होता है—जिससे भ्रम होने की सम्भावना रहती है।] किन्तु प्रस्तुत स्थल में, जहाँ गो-शब्द की ही आवृत्ति की जा रही है, किसी अन्य शब्द के उच्चारण की इच्छा नहीं है। [इसलिए वाच्यार्थ का ग्रहण सादृश्य पर आश्रित नहीं हो सकता।]

इसके अतिरिक्त उच्चारण करने के एक ही प्रयास या कार्य से दो कार्य एक ही साथ उत्पन्न नहीं हो सकते—शब्द का प्रयोग तथा अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध की सृष्टि। [जब-जब गो-शब्द का उच्चारण होगा तो यह पुराने शब्द के सदृश नवीन शब्द ही रहेगा। उस प्रत्येक नवीन शब्द पर दो-दो भार रहेंगे—(१) नये शब्द का प्रयोग तथा (२) इस नये शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध की स्थापना। यह उचित नहीं है।]

इन सभी कारणों से हम निष्कर्ष निकालते हैं कि शब्द का उच्चारण दूसरों को अर्थ का बोध कराने के लिए होता है, इसलिए शब्द नित्य है ॥ १८ ॥

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

गोशब्द उच्चरिते सर्वगवेषु युगपत्प्रत्ययो भवति। अत आकृतिवचनोऽयम्। न चाकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। निर्विषय हि आकृति कर्ता सम्बन्धी-यात्। गोपिण्डे च बहूनामाकृतीनां सद्भावाच्छब्दसन्तरेण गोशब्दवाच्यां विभक्ता-माकृतिं केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति? नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्व उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चान्यासु गोव्यक्तिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकृतिवचनमवगमयिष्यति। तस्मा-दपि नित्यः ॥ १९ ॥

सभी व्यक्तियों में युगपत् या एक ही समय में ज्ञान होने के कारण [शब्द नित्य है] ॥ १९ ॥

गो-शब्द का उच्चारण होते ही सभी गौओं का एक ही साथ बोध हो जाता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि शब्द पूरी जाति (आकृति) का बोधक है। जाति के साथ शब्द का सम्बन्ध उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति यह सम्बन्ध उत्पन्न करेगा वह जाति को निर्दिष्ट करके ही शब्द को अर्थ के साथ सम्बद्ध

कर सकता है [अर्थात् उसे जाति को अंगुलि से दिखाकर कहना पड़ेगा कि यही गो-शब्द का अर्थ है ।]

गो-पिण्ड (गौ के शरीर) में बहुत-सी जातियों की सत्ता है (जैसे—पार्थिवत्व, द्रव्यत्व, पुच्छत्व आदि); इसलिए शब्द-प्रयोग के बिना गो-शब्द से वाच्य विभिन्न जातियों में विभक्त गोत्व-जाति का उपदेश वह सम्बन्धकर्ता किस प्रकार कर सकेगा ? [जब तक शब्दार्थ-सम्बन्ध पूर्वतः निर्धारित नहीं हो जाता, तब तक सम्बन्ध-कर्ता 'गो'-शब्द का प्रयोग ही नहीं कर सकता । गो शब्द का निर्देश वह अधिक-से अधिक गो-शरीर में कर सकता है जहाँ अनेक जातियाँ निवास करती हैं । परिणामतः सम्बन्धकर्ता को अनेक बार गोशब्द का प्रयोग करना पड़ेगा, जो पूर्व सम्बन्ध के बिना असम्भव है । गो-शब्द अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा गोत्व-रूप विभक्त जाति का बोध नहीं करा सकेगा ।]

इसके विपरीत यदि गो-शब्द को नित्य मान लें तो अनेक बार उच्चरित होने पर, यह वही प्रथम बार सुना हुआ शब्द रहेगा जो दूसरे गो-व्यक्तियों का बोध करा चुका है । अब अन्वय (गो-शब्द की सत्ता में गोत्व-जाति की सत्ता) तथा व्यतिरेक (गोत्व जाति की अनुपस्थिति में गो शब्द की अनुपस्थिति) के द्वारा वह गो-शब्द जाति का बोध करायेगा । इस कारण से भी शब्द नित्य है ॥ १९ ॥

संख्याभावात् ॥ २० ॥

‘अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः’ इति वदन्ति, नाष्टो गोशब्दा इति । किमतः, यद्येवम् ? अनेन वचनेनावगम्यते—प्रत्यभिजानन्तीति । वयं तावत् प्रत्यभिजानीमो, न नः करणदोर्वल्यम् । एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति । प्रत्यभिजानाना प्रत्यभिजानन्ति चेद् वयमिवान्येऽपि ‘नान्य’ इति वक्तुमर्हन्ति ।

अथ मतम् — अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः ‘सः’ इति वक्ष्यन्ति । तन्न । न हि ते सदृश इति प्रतीयन्ति । किं तर्हि ? स एवायमिति । विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे व्यामोह इति गम्यते । न चायमन्यः इति प्रत्यक्षनन्यद्वा प्रमाणमस्ति ।

शब्द के विषय में संख्या का अभाव होने से भी [शब्द नित्य सिद्ध होता है] ॥२०॥ लोगों का व्यवहार होता है कि आठ बार ‘गो’ शब्द का उच्चारण किया गया । आठ ‘गो’ शब्द उच्चरित हुए—ऐसा कोई नहीं कहता । अच्छा, ऐसा ही व्यवहार होता है—तो इससे क्या हुआ ? इस प्रकार के शब्द-प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि लोग शब्द की प्रत्यभिज्ञा करते हैं (कि वही गोशब्द है जो आठ बार उच्चरित हुआ) । वे लोग इस प्रकार कहते हैं—हम तो शब्द की प्रत्यभिज्ञा करते हैं कि यह शब्द वही है । हमारी इन्द्रियाँ दुर्बल नहीं हैं [कि किसी भ्रम की सम्भावना हो] । इसी प्रकार दूसरे लोग भी प्रत्यभिज्ञा करते हैं कि शब्द वही है । प्रत्यभिज्ञा करनेवाले लोग पहचान करते हैं, तो हमारे समान दूसरे लोग भी कह सकते हैं कि शब्द वही है, दूसरा शब्द नहीं है ।

अब पूर्वपक्षियों के द्वारा यह माना जा सकता है कि प्रत्येक गोशब्द के भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण भ्रम में पड़े हुए लोग ‘यह वही है’ ऐसा कहते होंगे । इसका उत्तर हम देंगे कि नहीं, वे लोग शब्द के सदृश होने का ज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, अपितु उन्हें मालूम होता है कि यह शब्द वही है । [इस प्रकार अव्याहत लोकप्रतीति ही प्रत्यभिज्ञा

का प्रमाण है।] इस ज्ञान को (कि यह शब्द वही है) तभी व्यामोह या भ्रम कह सकते हैं जब स्पष्ट रूप से एक गोशब्द के दूसरे गोशब्द से भिन्न होने का ज्ञान हो जाय। यह शब्द दूसरा है—इस ज्ञान की प्राप्ति न तो प्रत्यक्ष से होती है, न किसी अन्य प्रमाण से ही। [इस प्रकार प्रत्येक गो-शब्द की अभिन्नता सिद्ध होती है।]

स्यादेतत् । बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायेते । ते अपि नित्ये प्राप्नुतः । नैष दोषः । नहि ते प्रत्यक्षे । अथ प्रत्यक्षे, नित्ये एव । ह्यस्तनस्य शब्दस्य विनाशादन्योऽद्यतन इति चेत् । नैष विनष्टः । यत एनं पुनरुपलभामहे । नहि प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्तमवृष्ट्वा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो विनष्टं परिकल्पयन्ति । परिकल्पयन्तो द्वितीयसंदर्शने मातरि जायायां पितरि वा नाश्वस्युः । न ह्यनुपलभ्यमात्रेण नास्तीत्यवगम्य 'नष्टः' इत्येव कल्पयन्ति । अप्रमाणतायां विदितायां 'नास्ति' इत्यवगच्छामः । नहि प्रमाणे प्रत्यक्षे सत्यप्रमाणता स्यात् ।

पूर्वपक्षी कह सकता है—[प्रत्यभिज्ञा के आधार पर यदि किसी वस्तु को नित्य सिद्ध किया जा सकता है तो [बुद्धि तथा कर्म की भी तो प्रत्यभिज्ञा होती है ? वे भी नित्य हो जायेंगे । [बुद्धि तथा कर्म को सभी लोग अनित्य मानते हैं । किन्तु दोनों की प्रत्यभिज्ञा होती है—आज जो गौ का ज्ञान मुझे हो रहा है वही ज्ञान मुझे कल भी हुआ था : कल जो गमन-कर्म मैंने किया था वही कर्म आज भी कर रहा हूँ । इस प्रत्यभिज्ञा से दोनों की नित्यता प्राप्त होती है ।]

इससे हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं लगता । बुद्धि तथा कर्म प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं । यदि वे प्रत्यक्षगम्य होते तो अवश्य ही नित्य होते [इस मन्दर्भ में कुमारिल का कहना है (श्लो० वा० शब्दनित्यतावाद ३९०-४) कि शब्द की प्रत्यभिज्ञा होने से ही इसकी अनित्यता प्रमाणित नहीं होती । प्रत्यभिज्ञा का निर्देश करने में शबर का एकमात्र उद्देश्य यह है कि शब्द की अनित्यता का सिद्धान्त प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के भी विरुद्ध है । यह उद्देश्य नहीं है कि प्रत्यभिज्ञा से शब्द की नित्यता का हम अनुमान कर लें । इसलिए पूर्वपक्षियों का प्रत्यभिज्ञा के बल पर बुद्धि और कर्म को नित्य मानने का व्यंग्य कोई अर्थ नहीं रखता । फिर भी इस निरर्थक आशंका का उत्तर देने के लिए हम प्रस्तुत हैं—शब्द की अनित्यता की सिद्धि आप अनुमान से करेंगे और नित्यता की सिद्धि में प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यभिज्ञा ही पर्याप्त है । निश्चित रूप से प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान व्यर्थ कर दिया जाता है । उधर बुद्धि और कर्म के दृष्टान्त में उनकी नित्यता प्रत्यभिज्ञा से अनुमेय हो सकती है, क्योंकि उनकी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षगम्य नहीं है और उनकी अनित्यता अनुमान द्वारा सिद्ध है । इस प्रकार उनके प्रामाण्यबल में कोई अन्तर नहीं होता—दोनों में अनुमान ही आता है; जब कि शब्द प्रत्यक्षगम्य है । एक दूसरी व्याख्या भी है कि जब बुद्धि और कर्म को अप्रत्यक्ष कहा गया है तब अप्रिणाय यह है कि ये शब्द के समान श्रोत्रग्राह्य नहीं ।]

पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि बीते हुए कलवाले शब्द का विनाश हो जाने से आज का शब्द विलकुल नया है, पूर्व शब्द से भिन्न है । इसका उत्तर हम देंगे कि नहीं, शब्द विनष्ट नहीं हुआ है, क्योंकि उसे हम पुनः उपलब्ध करने हैं । प्रत्यक्षतः देखे हुए पदार्थ को थोड़ी देर या क्षणभर के लिए नहीं देखकर, पुनः उसे उपलब्ध करने पर पहचानने के बाद कोई यह नहीं कहता कि वह पदार्थ उतनी देर तक विनष्ट हो गया था । यदि वे ऐसा

कहते हों या मानते हों तो वे अवश्य ही दूसरी बार अपनी माता, पत्नी या पिता को देखकर यह विश्वास नहीं करेंगे कि ये वही हैं । [अपितु वे समझेंगे कि दूसरे हैं ।]

केवल किसी वस्तु को नहीं देख पाने से 'वह नहीं है' ऐसा समझकर कोई यह कल्पना नहीं कर लेता कि वस्तु नष्ट हो गयी । किसी वस्तु की सिद्धि जब किसी प्रमाण से नहीं हो पाती तभी हम जान पाते हैं कि वह वस्तु नहीं (असत्) है और जब हमें [शब्द की सिद्धि के लिए] प्रत्यक्ष प्रमाण ही मिल रहा है तब उसे अप्रामाणिक (अर्थात् नहीं है—नष्ट हो गया) कहना नहीं चाहिए ।

अस्तीति पुनरव्यामोहेनावगम्यमाने न वचचिदप्यभावः । न चासिद्धेऽभावे व्यामोहः । न च सिद्धेऽभावः । तस्मादसति व्यामोहे नाभावः । तदेतदानुपूर्व्या सिद्धम् । तस्मात्पुरस्तादनुच्चारितमनुपलभमाना अपि न विनष्ट इत्यवगन्तुमर्हन्ति । यथा गृहास्त्रिगताः सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्योपलभमाना अपि न प्राक् प्रवेशाद्विनष्ट इत्यवगच्छन्ति । तद्वदेनमपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति ।

पुनः जब किसी वस्तु के अस्तित्व का निर्भ्रान्त रूप से ज्ञान हो जाता है तब उसकी सत्ता के निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता और जब तक किसी वस्तु की सत्ता का निषेध (अभाव) सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक उस वस्तु की सत्ता को व्यामोह या भ्रम नहीं कहा जा सकता । प्रस्तुत सन्दर्भ में शब्द के अभाव की सिद्धि नहीं किया गया है । इसलिए [शब्द की निरन्तर सत्ता की] प्रतीति के भ्रमरूप न होने कारण शब्द का अभाव नहीं माना जा सकता । यह बात उपर्युक्त रूप से क्रमशः सिद्ध हुई है ।

इसी से यह तथ्य भी निकलता है कि पहले से उच्चारित नहीं किये गये शब्द को नहीं जान सकने पर भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह नष्ट हो चुका है । उदाहरण के लिए घर से बाहर जाने पर कोई व्यक्ति अपने परिवार के सभी सदस्यों को नहीं देख पाये और पुनः घर लौटने के बाद उन सबों को देखे तो वह यह नहीं कह सकता कि उसके घर लौटने के पहले उन लोगों का अस्तित्व नहीं था या वे लोग नष्ट हो चुके थे । इस दृष्टान्त के आधार पर ही कोई आज सुने हुए शब्द को कल सुने हुए शब्द से भिन्न नहीं मान सकता । [बीच के समय में यदि किसी की उपलब्धि किसी कारण से न हो सके तो उस पदार्थ को हम नष्ट नहीं कह देते । शब्द की उपलब्धि कल भी हुई और आज भी, किन्तु बीच में अभिव्यंजक के अभाव में वह अनुपलब्ध रहा—तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह नष्ट हो गया । इस प्रकार बड़ी युक्ति से शब्द के नित्यत्व की सिद्धि होती है ।]

येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्त, तेऽपि न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुम् । अन्ते इह क्षयदर्शनात्ते मन्यन्ते । न च शब्दस्यान्तो न च क्षयो लक्ष्यते । 'सः' इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, 'सदृशः' इत्यानुमानिकः । न च प्रत्यक्ष-विरुद्धमनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति । तस्मान्नित्यः ॥ २० ॥

यहाँ तक कि जो (क्षणभंगवादी बौद्ध) लोग सभी भावरूप पदार्थों का प्रतिक्षण विनाश मानते हैं, वे भी शब्द के विषय में वैसी (विनाशवाली) बात नहीं कह सकते । क्षणिकवादी लोग किसी वस्तु के अन्त में क्षय या विनाश देखकर अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं । किन्तु शब्द का न तो कहीं अन्त दिखलाई पड़ता है और न क्षय ही लक्षित होता है । [कि उसे क्षाणक कहा जा सके] ।

इसके अतिरिक्त 'यह वही है' (यह शब्द वही है जिसे कल सुना था) — यह ज्ञान प्रत्यक्षजन्य है; जब कि यह शब्द पूर्वश्रुत शब्द के सदृश है — यह अनुमानजन्य है। प्रत्यक्ष के विरुद्ध अनुमान न तो उत्पन्न हो सकता है, न अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है ॥ २० ॥

अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

येषामनवगतोत्पत्तीनां ब्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, येषां विनाशकारणमुपलभ्यते। यथा—अभिनवं पटं दृष्ट्वा। न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान्। अथवा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा। तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयं तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात् तन्तुविनाशाद्वा 'विनश्यति' इत्यवगच्छति। नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते, यद्विनाशाद् 'विनश्यति' इत्यवगम्यते ॥ २१ ॥

किसी दूसरे पर आश्रित न होने के कारण [भी शब्द नित्य है] ॥ २१ ॥

जिन द्रव्यों की उत्पत्ति के विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है और जिनकी सत्ता हो (उत्पत्ति नहीं) लक्षित हो पाती है, उन द्रव्यों में से भी कुछ की अनित्यता जानी जाती है यदि उनके विनाश का कारण दिखलाई पड़ता हो। जैसे—नये वस्त्र को देखकर [हम उसे अनित्य मान लेते हैं] यद्यपि हमने उस वस्त्र को निर्मित होते हुए नहीं देखा है। फिर भी केवल उसके रूप को ही देखकर कोई भी व्यक्ति उसे अनित्य समझ लेता है। वह समझता है कि यह वस्त्र तन्तुओं (धागों) के परस्पर मिलाने से उत्पन्न हुआ है; तो तन्तुओं के परस्पर संयोग का नाश होने से या उन तन्तुओं के ही विनाश से वस्त्र के नाश की बात वह समझ लेता है। शब्द के विषय में हम देखते हैं कि पट के समान उसका कोई उपादान कारण नहीं मिलता जिसके विनाश से यह बांध हो कि शब्द नष्ट हो जायेगा ॥ २१ ॥

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

इवं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम्। ननु वायुकारणकः स्यादिति वायुरुद्गतः संयोगविभागः शब्दो भवतीति। तथा च शिक्षाकारा आहुः—वायुरापद्यते शब्दतामिति।

नैतदेवम्। वायवीयश्चेच्छब्दो भवेत्, वायोः संनिवेशविशेषः स्यात्। न च वायवीयानवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः। यथा—पटस्य तन्तुमयान्। न चैवं भवति। स्याच्चेदेवं, स्पर्शनेनोपलभेमहि। न च वायवीयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशामः। तस्मान्न वायुकारणकः। अतो नित्यः ॥ २२ ॥

शब्द का अपने किसी उपादान कारण से] संबन्ध रहने का कोई प्रत्यक्ष बोध (प्रख्या=प्रकृष्टा ख्यातिः, प्रत्यक्षात्मिका प्रत्यभिज्ञा) नहीं होता ॥ २२ ॥

[यह सूत्र कतिपय शब्दों के बाद पढ़ा जाना चाहिए। उन शब्दों में पूर्वपक्षी की आशंका के रूप में अवतरण दिया गया है—] वह कहता है कि शब्द का कारण वायु है क्योंकि वायु ही संयोगों तथा विभागों के साथ निकलकर शब्द बन जाता है। इसी प्रकार की बात शिक्षा-ग्रन्थों के प्रणेता लोग भी कहते हैं—वायु ही शब्द का रूप धारण करता है।

[इसी आशंका के उत्तर में यह सूत्र आया है । उत्तर में कहा जायेगा कि] ऐसी बात नहीं है । यदि शब्द वायु से उत्पन्न या वायु के रूप में होता तो यह वायु का ही कोई विशेष रूप होता । किन्तु जिस प्रकार पट में तन्तु के रूप में अवयवों को देख पाते हैं उस प्रकार शब्दों में वायु के अवयवों को वर्तमान नहीं पाते हैं । [शब्द का निर्माण वायु से होता तो वायु के कुछ अवयव तो शब्द में रहते ही ।] इसलिए शब्द ऐसा (=वायुजन्य) नहीं है । पुनः शब्द यदि वायुजन्य होता, तो [जिस प्रकार स्पर्श की इन्द्रिय द्वारा हम वायु का प्रत्यक्ष करते हैं उसी प्रकार] स्पर्शेन्द्रिय से ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता । किन्तु शब्द के भीतर वर्तमान किसी प्रकार के वायवीय अवयवों का स्पर्श हम नहीं कर पाते ।

इससे सिद्ध होता है कि शब्द वायु से उत्पन्न नहीं होता । इसी से शब्द की नित्यता भी सिद्ध होती है ॥ २२ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३ ॥

लिङ्गं चैवं भवति—‘वाचा विरूपनित्यया’ इति । अन्यपरं हीदं वाक्यं वाचो नित्यतामनुवदति । तस्मान्नित्यः शब्दः ॥ २३ ॥

निर्देशक वेदवाक्य प्राप्त होने के कारण भी [शब्द की नित्यता सिद्ध होती है] ॥ २३ ॥

[दूसरे प्रसंग में आया हुआ किन्तु दूसरे अर्थ का चोतक वाक्य लिङ्ग कहलाता है—] ऐसा लिङ्ग-रूप वैदिक वाक्य इस प्रकार आया है—रूपरहित तथा नित्य वाणी के द्वारा.... । [रूप का अर्थ यहाँ कर्ता है, इसलिए वाणं कर्तुरहित भी है । रूपयतीति रूपं कर्ता] यह वैदिक वाक्य दूसरे संदर्भ में आया है, तथापि शब्द की नित्यता का यह अनुवाद (आवृत्ति, पुनः उल्लेख) करता है । इस प्रकार शब्द नित्य सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

विशेष—इस सूत्र के साथ ही शब्द की नित्यता का अधिकरण समाप्त होता है । अब जैमिनि ३ सूत्रों में वाक्याधिकरण देंगे । इनमें प्रथम पूर्वपक्ष का होगा—शेष उत्तरपक्ष के ।

अधिकरण—७ (वाक्यार्थ का प्रामाण्य)

उत्पत्तौ वाच्यताः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥ २४ ॥

यद्यप्यौत्पत्तिको नित्यः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्च, तथापि न चोदनालक्षणा धर्मः । चोदना हि वाक्यम् । न ह्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामं इत्यतो वाक्यादन्यतमात्पदादग्निहोत्रात् स्वर्गो भवति—इति गम्यते । गम्यते तु पदत्रये उच्चरिते । न चात्र चतुर्थः शब्दोऽस्त्यन्यदतः पदत्रयसमुदायात् ।

उत्पत्तिः २ अर्थात् नित्यता के होने पर भी वे (शब्द, अर्थ तथा उनके बीच का सम्बन्ध ये तीनों) वैदिक विषय-वस्तु अर्थात् धर्म के बोधक नहीं हो सकते (अर्थस्य अवचनाः), क्योंकि वे उस कार्य के लिए समर्थ नहीं हैं ॥ २४ ॥

१—अन्यपरं सदन्वयचोतकं वाक्यं लिङ्गम् ।

२—उत्पत्तिः : औत्पत्तिकता = स्वाभाविकता = नित्यता ।

पूर्वपक्षी—यद्यपि शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध—ये तीनों औत्पत्तिक अर्थात् नित्य हैं तथापि इस आधार पर आप यह नहीं कह सकते कि वैदिक विधियों से लक्षित होने वाला पदार्थ धर्म है। इसका कारण यह है कि वैदिक विधि वाक्य के रूप में होती है। [अब वाक्य के विषय में चार विकल्प हो सकते हैं—(१) प्रत्येक पद वाक्यार्थ का बोधक है, (२) श्रूयमाण पदों के समूह से भिन्न कोई वस्तु वाक्य है, (३) पदों का समूह वाक्य है, (४) पदों का अर्थ ही वाक्य है। पूर्वपक्षी अब प्रथम विकल्प का निराकरण करता है—]

‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ (स्वर्ग की कामना करनेवाले व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए)—इस वाक्य के किसी एक शब्द से यह वाक्यार्थ नहीं निकलता कि अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है। यह अर्थ तो सभी निकलता है जब तीनों पदों का उच्चारण किया जाता है। इन तीनों पदों के समुदाय से भिन्न कोई चौथा शब्द यहाँ विद्यमान नहीं है (द्वितीय विकल्प)।

न चायं समुदायोऽस्ति लोके, यतोऽस्य व्यवहारादर्थोऽवगम्यते। पदान्यमूनि प्रयुक्तानि, तेषां नित्योऽर्थः। अप्रयुक्तश्च समुदायः। तस्मात्समुदायस्यार्थः कृत्रिमो व्यामोहो वा। न च पदार्था एव वाक्यार्थः। सामान्ये हि पदं प्रवर्तते, विशेषे वाक्यम्। अन्यच्च सामान्यम्, अन्यो विशेषः। न च पदार्थाद् वाक्यार्थावगतिः, असम्बन्धात्। असति चेत्सम्बन्धे कस्मिंश्चित्पदार्थोऽवगतेऽर्थान्तरमवगम्येत। एकस्मिन्नवगते सर्वमवगतं स्यात्। न चैतदेवं भवति। तस्मादन्यो वाक्यार्थः।

[अब तृतीय विकल्प का परिहार किया जाता है—] लोकव्यवहार में इस प्रकार का समुदाय प्राप्त नहीं होता जिसके व्यवहार से अर्थ की प्रतीति हो। [यह इस प्रकार का समुदाय है—ऐसा लोक में प्राप्त नहीं होता। ‘गामानय’ इत्यादि पद-समुदाय के होने पर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं? बात यह है कि अर्थ के संबन्ध पर ही पदों का समुदाय निर्भर करता है। यदि ऐसा नहीं हो तो ‘गौरश्वः’ इत्यादि का भी पद-समुदाय कहा जायेगा (वाक्य)। अब जहाँ तक संबन्ध का प्रश्न है वह पदों के स्वरूपमात्र से, या अर्थ-संबन्ध द्वारा—किसी प्रकार संभव नहीं है, अतः समुदाय नाम की चीज नहीं होती।] समुदाय में अवस्थित इन पदों का प्रयोग लोक में होता है, उनका अर्थ नित्य होता है। समुदाय का प्रयोग नहीं होता। इसलिए यह ज्ञात होता है कि समुदाय का अर्थ कृत्रिम है या वह भ्रम है।

[चतुर्थ विकल्प का निराकरण किया जाता है—] यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाक्यगत पदों का अर्थ ही वाक्य का अर्थ है। इसका कारण यह है कि (सिद्धान्तियों के अनुसार भी) सामान्य या जाति के विषय में पदों की प्रवृत्ति होती है जब कि वाक्य [अर्थान्तर से अन्वित रूप] विशेष के अर्थ में प्रवृत्त होता है। सामान्य तथा विशेष में बहुत न्तर होता है। अब यह पक्ष भी देना सम्भव नहीं है कि ‘पदार्थ से वाक्यार्थ का बोध होता है। दोनों के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। यदि सम्बन्ध न रहने पर भी किसी एक शब्द का अर्थ जान लेने पर दूसरे शब्द के अर्थ की प्रतीति हुआ करती—तब तो एक ही पदार्थ के ज्ञान से संसार के सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता।

किन्तु ऐसा तो नहीं होता है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वाक्य का अर्थ पदों के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है।

स्यादेतत् । अप्रयुक्तादपि वाक्यावसति संबन्धे स्वभावादर्थविगम इति कल्प्येत । शब्दो धर्ममान्मीयं व्युत्क्रामेत । न चैष शब्दधर्मो यदप्रयुक्तादपि शब्दादर्थः प्रतीयते । न हि प्रथमश्रुतात् कृतश्चिच्छब्दात्केचिदर्थं प्रतिपत्ति । तदभिधीयते—पदधर्मोऽयं न वाक्यधर्मः । वाक्याद्धि प्रथमावगतादपि प्रतियन्तोऽयं दृश्यन्ते ।

नैतदेवम् । यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुरपि, तर्हि सर्वोऽवगच्छेयुः, पदार्थविदोऽन्ये च । न त्वपदार्थविदोऽवगच्छन्ति । तस्मान्नैतदेवम् ।

यहाँ उत्तरपक्षी कह सकता है—जिसका प्रयोग पहले नहीं हुआ है ऐसे वाक्य में निश्चित रूपसे सम्बन्ध का निर्धारण नहीं हो सकता है; तथापि ऐसे वाक्य के स्वभाव से ही अर्थ का बोध होगा—ऐसा माना जा सकता है। तब यदि पूर्वपक्षी कहे कि ऐसी स्थिति में शब्द अपने धर्म को छोड़ देगा—यह शब्द के स्वभाव के विपरीत होगा कि अप्रयुक्तपूर्व शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होती है। वस्तुतः कोई व्यक्ति पहली बार सुने हुए (= अनिर्धारित अर्थसंबन्धवाले) शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकता। इसपर हम (उत्तरपक्षी) कहेंगे कि आपका जो यह नियम है [कि शब्द अप्रयुक्त होने की स्थिति में अर्थबोध नहीं करा सकता] वह पद के धर्म का निर्देश करता है, वाक्य का ऐसा धर्म (स्वभाव) नहीं होता। हम सामान्यतः देखते हैं कि पहली बार ज्ञात हुए वाक्य से भी लोग अर्थ की प्रतीति कर लेते हैं।

इसपर हम पूर्वपक्षी लोग कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। यदि पहली बार सुने हुए वाक्य से लोग अर्थबोध करते हैं तो सभी लोग वाक्यार्थ बोध करते होंगे—चाहे वे उस वाक्य के अवयवभूत पद के अर्थ जानते हों या नहीं। किन्तु व्यवहारतः हम देखते हैं कि जो लोग वाक्यगत पदों का अर्थ नहीं जानते हैं वे वाक्य का अर्थ नहीं जान पाते। इसलिए उत्तरपक्षी की बात सही नहीं है।

ननु पदार्थविद्विरप्यवगच्छद्विरकृत एव वाक्यार्थसम्बन्धो भविष्यति । पदार्थवेदनेन हि संस्कृता अवगमिष्यन्ति, यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेनेति । नेति ब्रूमः । यदि वाक्येऽन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं प्रत्यापयति, उपकारस्तु तदा न पदार्थज्ञानादवकल्पते । तस्मात्कृत्रिमो वाक्यार्थप्रत्ययो व्यामोहो वा । न पदार्थद्वारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति ।

उत्तरपक्षी पुनः कहता है—वाक्यगत पदों का अर्थ जाननेवाले लोग भी यदि वाक्यार्थ का बोध करते हैं तथापि वाक्य का अपने अर्थ के साथ जो सम्बन्ध होगा, वह अकृत्रिम (नित्य) ही होगा, जिस प्रकार दूसरी बार सुने गये शब्द का अर्थ केवल वही लोग जानते हैं जिन्होंने पहले भी शब्द का श्रवण करके उसका अर्थबोध किया है—उसी प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान भी वे ही लोग कर सकेंगे जो पद और उसके अर्थ का सम्बन्ध जानकर संस्कृत हुए रहेंगे (शब्दार्थ-संबन्ध के ज्ञान में दक्ष होंगे)।

इसपर हम पूर्वपक्षी कहेंगे कि ऐसा नहीं है; वाक्य के विषय में पूर्ववर्ती वर्णों से उत्पन्न संस्कार के साथ अंतिम वर्ण यदि वाक्यगत पदों के अर्थों से भिन्न एक नये अर्थ (वाक्यार्थ)

का बोध कराता है, तब तो यही कहा जा सकता है कि पदों के अर्थों के ज्ञान से [वाक्यार्थ के ज्ञान में] किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल रही है । इसलिए वाक्यार्थ का ज्ञान या तो कृत्रिम (उत्पाद्य) है या वह भ्रम-रूप है । वस्तुतः पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है ।

नन्वेवं भविष्यति—सामान्यवाचिनः पदस्य गौरिति वा, अश्व इति वा, विशेषकं शुक्ल इति वा, कृष्ण इति वा पदमन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्थोऽवगम्यते । तत्र । कथमिव गौरिति वा, अश्व इति वा सामान्यवाचिनः पदात्सर्वगवीषु सर्वाश्वेषु च बुद्धिरुपसर्पन्ती श्रुतिजनिता, वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद् विशेषादपवर्तते ।

उत्तरपक्षी सम्भवतः यहाँ यही कहेंगे कि [शुक्लो गौः, कृष्णोऽश्वः—इन वाक्यों में] वाक्य का अर्थ तब ज्ञात होता है जब विशेष के वाचक पद 'शुक्ल' या 'कृष्ण' सामान्य के वाचक पद 'गौ' या 'अश्व' के समीप आते हैं । हम इसका उत्तर देंगे कि यह बात नहीं है । यह कैसे सम्भव है कि 'गौ' या 'अश्व' इस सामान्यवाचक पद से क्रमशः सभी गौओं तथा सभी अश्वों का बोध करानेवाली, साक्षात् श्रुति या संकेत से उत्पन्न जो बुद्धि आती है, वह वाक्य के अनुरोध (प्रभाव) के कारण किसी विशेष गौ या अश्व से पृथक् हो जायेगी । [गो इत्यादि शब्द से श्रुति-स्वभाव के ही कारण समस्त गौओं का ज्ञान होता है, यदि शुक्ल-शब्द के साथ उसकी एकवाक्यता होगी तो इसके प्रभाव के कारण शुक्लेतर गौओं से उस 'गौ'-शब्द (सामान्य-वाचक) की व्यावृत्ति हो जायेगी—यह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति उस शब्द को सामान्य में व्यवस्थित करती है जब कि वाक्य उसे कतिपय विशेष में व्यवस्थित करके दूसरे विशेषों से पृथक् करता है । वाक्य की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है ।]

न च शुक्ल इत्यादेर्विशेषवचनस्य कृष्णादिनिवृत्तिर्भवति शब्दार्थः । न चानर्थको भा भूवित्यर्थपरिकल्पना शक्या । अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः । तस्मात्कृत्रिमः । पदसंघाताः खल्वेते । संघाताश्च पुरुषकृता दृश्यन्ते । यथा —

नीलोत्पलवनेष्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः ।

नीलकौशेयसंवीताः प्रणश्यन्ति वकादयः ॥^१

अतो वैदिका अपि पुरुषकृता इति ॥ २४ ॥

[शब्दार्थ-विषयक अपोहवाद का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि] 'शुक्ल' इत्यादि विशेष-वाचक पद का यह अर्थ नहीं होता कि कृष्णादि की निवृत्ति हो जायेगी । पुनरपि किसी शब्द में अर्थ की कल्पना इसलिए करना ठीक नहीं है कि शब्द कहीं अनर्थक न हो जाये । इसलिए वाक्यार्थ [वाक्यगत] पदों के अर्थों से उत्पन्न नहीं होता । इसीलिए वह कृत्रिम (अनित्य, उत्पाद्य) है । सत्यता तो यह है कि वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी पदों के संघात ही हैं और जितने भी संघात (शब्दों के संकलन) हैं वे सभी पुरुषों के ही द्वारा निर्मित होते हैं । यथा यह श्लोक—“नीलकमलों के बनों में

१. रामाः कौशेयसंवीताः कादम्बा इव शोभनाः—इति न्यायरत्नमालायां पठित उत्तरार्थः ।

चरते हुय, सुन्दर निःस्वन (बाणी) से युक्त हंस मानो नीले रेशमी वस्त्र से आच्छन्न होकर नृत्य कर रहे हों ।”

जब सभी वाक्य पद-संघात होने के कारण पुरुषनिमित्त होते हैं तब वैदिक वाक्य भी पुरुष-निमित्त ही सिद्ध होते हैं ॥ २४ ॥

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाप्तायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २५ ॥

तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रियार्थेन समुच्चारणम् । नान-
पेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुतः ? प्रमाणाभावात् । न
किञ्चन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमीमहे । न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य
पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थभ्योऽर्थान्तरे वर्तितुमिति ।

उत्तरपक्षी—[किसी वाक्य में] विभिन्न अर्थों में स्थिर पदों का क्रियावाचक (क्रिया का अर्थ रखनेवाले) पद के साथ उच्चारण होता है; क्योंकि वाक्य का अर्थ उन्हीं (पदार्थों) पर निर्भर करता है ॥ २५ ॥

वाक्य में उन विभिन्न पदार्थों में स्थिर (भूत) अर्थात् वृत्ति रखनेवाले (वर्तमानानां) पदों का क्रिया-परक पद के साथ-ही साथ उच्चारण होता है । [इसलिए वाक्य का उद्देश्य क्रिया में प्रवृत्ति देना है; उसमें साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता के रूप में भावना अवश्य ही निहित रहती है । किन्तु क्रिया की पुष्टि करनेवाले सहायक पदार्थ भी वाक्य में रहते ही हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।] वाक्यगत पदों के अर्थों की उपेक्षा करके, उनसे स्वाधीन या निरपेक्ष होकर, वाक्य कोई दूसरा अर्थ नहीं दे सकता ।

ऐसा क्यों ? क्योंकि वाक्य के पदार्थानपेक्ष होने का कोई प्रमाण नहीं । ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि वाक्य अपने पदों से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का बोध कराये । यहाँ तक कि पूर्ववर्ती वर्णों से उत्पन्न संस्कारों को लेकर वाक्य का अन्तिम वर्ण भी, पदों के अर्थों की अपेक्षा रखे बिना, वाक्यार्थ-बोध की शक्ति नहीं रखता कि उन पदार्थों से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का बोध करा दे ।

ननु अर्थापत्तिरस्ति, यत्पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः । न च शक्तिमन्तरेण तदवकल्प्यत इति ।

तन्न । अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् । भवेदर्थपत्तिर्यद्यसत्यामपि शक्तौ नान्यन्निमित्त-
मवकल्प्येत । अवगम्यते तु निमित्तम् । किम् ? पदार्थाः । पदानि हि स्वं स्वं
पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि । अथेदानीं पदार्थाः अवगताः सन्तो वाक्यार्थं
गमयन्ति ।

पूर्वपक्षी कहता है—किन्तु [वाक्य की स्वतंत्र अर्थाभिधान की शक्ति के विषय में] अर्थापत्ति-प्रमाण तो है । हम कभी-कभी पदार्थ से अतिरिक्त अर्थ का बोध करते हैं । यह अर्थबोध तब तक असंभव है जब तक हम वाक्य में शक्ति (अर्थबोध की क्षमता) न मानें—इस प्रकार अर्थापत्ति से वाक्य-गत शक्ति का बोध होता है ।

सिद्धान्तवादी कहते हैं—ऐसी बात नहीं । सूत्रकार स्वयं कहते हैं कि वाक्य का अर्थ पदार्थों पर ही आश्रित है । पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत की गयी अर्थापत्ति तभी हो सकती

धी जब उपर्युक्त शक्ति के न रहने की स्थिति में, कोई दूसरा निमित्त या साधन (आधार) वाक्यार्थबोध के लिए संभव नहीं था। किन्तु हमें उसके लिए साधन तो मिल ही जाता है। वह कौन-सा साधन है? वाक्यगत पदों का अर्थ ही वह साधन है। बात यह होती है कि सभी पद अपने-अपने पदार्थ का बोध कराकर अपने व्यापार (अर्थाभिधान व्यापार) से निवृत्त हो जाते हैं। अब इसके बाद ये पदार्थ अवगत हो जाने पर (समझ लिये जाने पर) एक संयुक्त वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

कथम्? यत्र हि शुक्ल इति वा, कृष्ण इति वा गुणः प्रतीतो भवति। भवति खल्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम्। तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुण-वचनमुच्चारयन्ति। संप्रत्यय एषां यथासंकल्पितोऽभिप्रायः। भविष्यति विशिष्टार्थ-संप्रत्ययः। विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः। एवं चेदमवगम्यतेऽन्यत एव वाक्यार्थः। को जातुचिददृष्टा पदसमुदायस्य शक्तिरथादिवगम्यत इति वदिष्यति?

यह कैसे संभव है? जहाँ शुक्ल, कृष्ण इत्यादि शब्दों से [शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि] गुण प्रतीत होते हैं, वहाँ ये शब्द इन गुणों को धारण करनेवाले पदार्थों का ज्ञान कराने में भी समर्थ होते हैं। इसीलिए गुण को धारण करनेवाले पदार्थ का ज्ञान चाहनेवाले लोग कभी-कभी केवल गुणवाचक (शुक्लादि) पद का उच्चारण करते हैं और इससे इनके संकल्प (मन की कल्पना) के अनुसार अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति भी हो जाती है। इन विशेषणों से युक्त पदार्थ का ज्ञान वास्तव में होता है और यही विशेषण-युक्त पदार्थ का ज्ञान तो वाक्यार्थ है। [वाक्यार्थ के संबन्ध में शबर का यह विचार ध्यातव्य है। शब्द से हमें किसी विशिष्ट (विशेषण-युक्त) पदार्थ का ज्ञान होता है और वाक्य का उद्देश्य भी यही है कि किसी विशिष्ट पदार्थ का बोध कराये। इस प्रकार सिद्ध है कि वाक्य में शब्द एक दूसरे के विशेषण होते हैं तथा एक अखंडार्थ का बोध कराते हैं। किसी भी स्थिति में पदों के अर्थों से ही वाक्य का अर्थ आता है।]

जब ऐसी वस्तुस्थिति है तब तो वाक्य का अर्थ किसी दूसरे ही निमित्त से (पूर्वपक्षी द्वारा सुझायी गयी अर्थापत्ति से भिन्न, पदार्थ-रूप निमित्त से) ज्ञात होता है। और जब पद-समुदाय में वस्तुतः कोई भी शक्ति दिखलाई नहीं पड़ती है, तब कौन ऐसा कहेगा कि इस शक्ति का ज्ञान हम अर्थापत्ति के द्वारा वाक्यार्थ के आधार पर करते हैं? [यदि ऐसी अर्थापत्ति लायेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा कि अर्थ के आधार पर शक्ति का ज्ञान और शक्ति के आधार पर अर्थ का ज्ञान होने लगेगा।]

अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते। भवति हि कदाचिदियमवस्था मान-सादप्याघातात्, यदुच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था अवधार्यन्ते। तदानीं नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुर्यदि अस्यापार्थगर्थमभविष्यत्। नियोगतस्तु नावगच्छन्ति।

अपि चान्तरेणापि पदोच्चारणं यः शौक्यमवगच्छति, अवगच्छत्येवासौ शुक्ल-गुणकम्। तस्मात्पदार्थप्रत्यय एव वाक्यार्थः, नास्य पदसमुदायेन संबन्धः।

इसके अतिरिक्त, कोई वस्तु एक दूसरी से पृथक् है या नहीं, यह बात अन्वय तथा व्यतिरेक से भी ज्ञात होती है। प्रस्तुत प्रसंग में हम देखते हैं कि कभी-कभी ऐसी अवस्था मानसिक आघात (स्मृति-लोप) के कारण हो जाती है जिससे उच्चारण किये गये पदों से

भी पदार्थों का निर्धारण (ग्रहण) नहीं हो पाता। उस समय, ऐसे शब्दों से बने वाक्यों का अर्थ निश्चय ही लोग नहीं समझ पाते, यदि वाक्यार्थ से बिल्कुल ही पृथक् नहीं होता। किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि ऐसी परिस्थिति में (= पदार्थ का ज्ञान नहीं होने पर) लोग वाक्यार्थ का बोध निश्चय ही नहीं कर पाते हैं। [इससे यह निष्कर्ष निकला कि वाक्य का अर्थ पदों के अर्थ से नितान्त भिन्न नहीं है।]

[कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि उपर्युक्त स्थिति में, जहाँ स्मृति-लोप के कारण पदोच्चारण के बाद पदार्थज्ञान नहीं होने से वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सका, वस्तुतः वाक्य का भी बोध नहीं हुआ है—अर्थ का इसीलिए ग्रहण नहीं हुआ। यह बात नहीं कि पदार्थ-ज्ञान के अभाव में वाक्यार्थज्ञान नहीं हुआ है। इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—] जहाँ पद का उच्चारण न होने पर भी कोई व्यक्ति शुक्लत्व को जान रहा है तो निश्चित रूप से वह शुक्ल-गुण से विशिष्ट पदार्थ को भी जान रहा है। [इस प्रकार गुण से ही गुणवान् पदार्थ का भी ज्ञान होता है। वाक्यार्थ की स्थिति में भी यही बात है। वाक्यार्थ के अन्तर्गत परस्पर विशेषता बतलानेवाले पदार्थ रहते हैं। जैसे—किसी अव्यक्त श्वेत पदार्थ को दूर दौड़ते देखें और उसकी हिनहिनाहट तथा खुर की टाप सुनें, तो हमें श्वेत अश्व तथा दौड़ने का ज्ञान होगा। तब यह ज्ञान होगा कि श्वेत अश्व दौड़ रहा है। यह उस वाक्य का अर्थ है जो अभी उच्चरित नहीं हुआ है। यदि वाक्य का ग्रहण न होना ही वाक्यार्थ-बोध न होने का कारण है तब उपर्युक्त स्थिति में वाक्यार्थ-बोध कैसे हो गया? वाक्य का उच्चारण तो यहाँ नहीं हुआ है।]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पदों का अर्थज्ञान होने से ही वाक्यार्थज्ञान होता है और इसका (वाक्यार्थ का) पद-समुदाय के साथ सम्बन्ध नहीं है। [पद-समुदाय=वाक्य-गत शब्दों का समुदाय, जो प्रत्येक व्यष्टिरूप पद से पृथक् है। पद-समुदाय-रूप वाक्य पृथक् मानकर उसकी शक्ति को भी पृथक् मानना प्रामाण्यसिद्ध नहीं है—यही सिद्धान्त है।]

यत्—‘श्रुतः पदार्थो न वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपर्वतितुमर्हति’ इति। सत्यमेवैवमेतत्। यत्र केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावादनर्थकः सजायत इत्यवगतं भवति, तत्र वाक्यार्थोऽपि तावद् भवत्विति विशिष्टार्थतावगम्यते, न सर्वत्र। एवं च सति ‘गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः’ इत्येतदपि परिहृतं भवति।

ऊपर यह आक्षेप किया गया है कि शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ (जो पूरी जाति का बोधक है = प्रत्येक व्यष्टि का), वाक्य के प्रभाव में आकर, किसी विशेष पदार्थ का बोध कराने से वंचित नहीं हो सका। [जैसे—‘गो’ शब्द सभी गौओं का जब बोधक है तब ‘श्वेतो गौर्वावति’ इस वाक्य में आने के कारण इस ‘गो’ शब्द को केवल उजली गाय के अर्थ में सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता।]

हम इसका उत्तर देंगे कि बात सच है। किन्तु हम यह मानते हैं कि जहाँ पर कोई पदार्थ अकेला प्रयुक्त हुआ है और अपने-आप में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पाने के कारण निरर्थक हो रहा है, वहाँ उस पदार्थ को नियंत्रित (सीमाबद्ध) अर्थ में लेकर वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है—वहाँ पर वाक्यार्थ के विशेषण के रूप में इसे जाना जाता है [जहाँ हमारा उद्देश्य यह है कि शब्द के स्वाधीन अर्थ के रूप में जब यह किसी काम का नहीं है तब इसे वाक्य के विशिष्ट अर्थ के रूप में स्वीकार कर लें।] परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता।

इसी समाधान से पूर्वपक्षी की उस युक्ति का भी परिहार हो गया जिसमें उसने कहा था—यह (शुक्ल) शब्द यह अर्थ नहीं रखता कि दूसरे गुणों का निषेध हो जाये । [भाव यह होगा कि जहाँ 'शुक्ल' शब्द अपने-आप में निरर्थक होगा वहाँ इसे गुणान्तर-निषेध के अर्थ में ले सकते हैं, सर्वत्र नहीं ।]

अपि च प्रातिपदिकादुच्चरन्ती द्वितीयादिविभक्तिः प्रातिपदिकार्थो विशेषकः इत्याह । सा च विशेषश्रुतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत । यच्चैते पदसंघाताः पुरुषकृता दृश्यन्त इति । परिहृतं तदस्मरणादिविभिः । अपि चैवंजातीयकेऽर्थे वाक्यानि संहतुं न किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति ॥ २५ ॥

[पूर्वोक्त श्रुति तथा वाक्य के विरोध के अभाव का विशेष उदाहरण दिया जाता है—] इसके अतिरिक्त, 'गाम्' इत्यादि पदों में, प्रातिपदिक-शब्द (गो) के बाद उच्चरित होने वाली द्वितीयादि विभक्ति इस नियम को लक्षित करती है कि प्रातिपदिक का अर्थ प्रत्ययार्थ को नियंत्रित करता है (विशेषकः) । पुनः, विभक्ति की विशेष श्रुति (यह स्थिति कि 'गाम्' पद में आनेवाली द्वितीया विभक्ति केवल गोविशेष में निर्हित कर्मत्व के विशेष प्रकार का बोध कराती है) सामान्य श्रुति को (सामान्य स्थिति को कि द्वितीया विभक्ति कर्मत्व-सामान्य का बोध कराती है) बाधित कर देगी । [प्रत्ययों का यह स्वभाव है कि वे प्रकृत्यर्थ में अनुरक्त होकर ही स्वार्थबोधक होते हैं । द्वितीया की श्रुति 'गाम्' में होती है—यहाँ प्रातिपदिकार्थ द्वितीया का विशेषण हो जाता है जिसका फल होता है कि जहाँ द्वितीया विभक्ति में श्रुतिसामान्य से कर्ममात्र का बोध कराने की क्षमता थी—अब प्रातिपदिकार्थ से विशिष्ट होने के कारण केवल गो-रूप कर्म-विशेष का बोध करा रही है । दूसरे शब्दों में प्रातिपदिकार्थ-विशिष्ट होने से द्वितीया विभक्ति की विशेष श्रुति हो गई; वैसे सामान्य श्रुति से 'कर्मणि द्वितीया' तो होती ही है ।]

यह आरोप भी पूर्वपक्षी ने लगाया था कि ये पद-संघात पुरुष-निर्मित देखे जाते हैं । इसका तो खण्डन हमने वहाँ कर दिया है जहाँ अस्मरण का चर्चा का है [=पुरुषनिर्मित वेद होने का स्मरण किसी को नहीं है इत्यादि ।] इसके अतिरिक्त किसी पुरुष में हम इतनी शक्ति (बीज) नहीं पाते कि वह [यज्ञ, स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय] पदार्थों के विषय में वाक्य की रचना कर सके । [इसलिये वैदिक वाक्य पुरुष-निर्मित नहीं हैं ।] ॥ २५ ॥

लोके सन्नियमात्प्रयोगसंनिकर्षः स्यात् ॥ २६ ॥

लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य सन्नियमः सन्निवन्धनं शक्यं संहतुम् । एवंजातीयकानि वाक्यानि—'नीलोत्पलवनेष्वद्य' इति ।

तस्मादग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो येष्या अवगतास्तेभ्य एवेतदवगम्यते—अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति । पदेभ्य एव पदार्थप्रत्ययः, पदार्थेभ्यो वाक्यार्थ इति ॥ २६ ॥

लौकिक पदार्थों के विषय में [ज्ञानेन्द्रियों से साक्षात्] सम्पर्क होने के कारण, प्रयोग के समय, वाक्य की रचना हो सकती है ॥ २६ ॥

[ऊपर यह कहा गया है कि पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में वाक्य-रचना नहीं कर सकता । अब] जहाँ तक लौकिक पदार्थों का प्रश्न है उनके विषय में, प्रत्यक्ष के द्वारा

पदार्थ को देखकर, उन अर्थों को प्रतिपादित करने वाले शब्दों को मिलाकर (सत्त्व= पदार्थों को, नियमन=निबन्धन= जोड़ना), इस प्रकार के वाक्यों की रचना करना संभव है—‘आज नीलकमलों के बनों में....’

उपयुक्त सारी बातों से हम निष्कर्ष निकालते हैं कि ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ (स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति अग्निहोत्र-याग अनुष्ठित करे)—इन तीन पदों से ही जो अर्थ ज्ञान होते हैं उन्हीं अर्थों से यह वाक्यार्थ भी ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र-याग करने से स्वर्ग मिलता है। तात्पर्य यह है कि पदों से पदार्थों का ज्ञान होता है और पदार्थों से वाक्यार्थ-बोध होता है ॥ २६ ॥

विशेष—इस सप्तम अधिकरण में शबर ने वाक्यार्थ-विषयक अनेक भ्रान्तियों को दूर करके पदार्थों से वाक्यार्थ-बोध का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वाक्य में पृथक् शक्ति नहीं होती, उसका काम शब्दशक्ति से ही चल जाता है। वाक्य-विषयक चर्चा मांसांसा के इतिहास में इतनी अधिक हुई है कि इसका नाम ही वाक्य-शास्त्र पड़ गया है। शब्द को नित्य माना गया है किन्तु वाक्य दोनों प्रकार के होते हैं—अपौरुषेय (वेद) तथा पुरुषकृत।

अधिकरण ८ (वेदों की अपौरुषेयता)

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७ ॥

उक्तं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । यतो न पुरुषकृतः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । तत्र पदवाक्याभ्यय आक्षेपः परिहृतः । इदानीमन्यथाक्षेपस्यामः । पौरुषेयाश्चोदना इति वदामः । संनिकृष्टकालाः कृतका वेदाः इदानीन्तनाः । ते च चोदनानां समूहाः । तत्र पौरुषेयाश्चेद् वेदाः, असंशयं पौरुषेयाश्चोदनाः ।

पूर्वपक्षी—कुछ लोग वेद को आधुनिक मानते हैं क्योंकि पुरुषों के नाम पर वे अभिहित होते हैं ॥ २७ ॥

पूर्वपक्षी कहता है—आपने कहा है कि वैदिक विधिवाक्यों से लक्षित कल्याणकारक पदार्थ धर्म है क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ संबन्ध पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं होता। इनमें पद और वाक्य के विषय में जो आक्षेप हमने किये हैं उनका परिहार सिद्धान्त-पक्ष से कर दिया गया। अब हम उन सिद्धान्तवादियों पर दूसरे विषय में आक्षेप करेंगे।

हम मानते हैं कि वैदिक विधियाँ पुरुषनिर्मित हैं। ये वेद संनिकृष्ट (निकटवर्ती) काल के हैं, उत्पन्न किये गये हैं, आधुनिक काल में रचे गये हैं। ये वेद विधिवाक्यों के समूह हैं। यदि वेद ही पुरुष के द्वारा निर्मित हैं, तब उनके अवयव-रूप विधिवाक्य तो निश्चित रूप से पुरुष-निर्मित ही होंगे। [इस प्रकार वे विधिवाक्य अनित्य हो जाएँगे तथा धर्म के सदृश पदार्थ को लक्षित नहीं कर सकेंगे।]

कथं पुनः कृतका वेदा इति केचिन्मन्यन्ते ? यतः पुरुषाख्याः । पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः—काठकं, कालापकं, पेंपलादकमिति । न हि सम्बन्धादुते समाख्यानम् । न च पुरुषस्यान्यः शब्देनास्ति सम्बन्धो यदतः कर्ता पुरुषः, कार्यः शब्दः इति ।

ननु प्रवचनलक्षणा समाख्या स्यात् । नेति ब्रूमः । असाधारणं हि विशेषणं भवति, एक एव हि कर्ता, बहवोऽपि प्रब्रूयुः । अतोऽस्मर्यमाणोऽपि चोदनायाः कर्ता स्यात् । तस्मान्न प्रमाणं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥ २७ ॥

यहाँ सिद्धान्तवाद। पूछ सकता है कि किस आधार पर आप वेदों को कृतक (पुरुष-निर्मित) मानते हैं? हम उत्तर देंगे कि पुरुषों की आख्या (नाम) से युक्त जो हैं। ये वेद पुरुष के नाम के आधार अभिहित होते हैं, जैसे—काठक (कठ-द्वारा निर्मित), कालापक (कलापक-द्वारा रचित), पिप्पलाद (पिप्पलाद-द्वारा रचित) संहिताएँ। [जिन पुरुषों के आधार पर ये नाम पड़े हैं] उनके साथ सम्बन्ध हुए बिना, ये नाम (समाख्यान) नहीं दिये जा सकते और पुरुष को किसी शब्द के साथ [जैसे—शब्दराशि वेद के साथ] कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं हो सकता; सम्बन्ध केवल इसी रूप में हो सकता है कि पुरुष कर्ता है और शब्द उसका कार्य है। [इसलिए शब्द-रूप वेद का कर्ता ही पुरुष होगा।]

यहाँ सिद्धान्तवाद। पुनः आक्षेप कर सकता है कि यह समाख्यान (नामकरण) प्रबन्धन करनेवाले ऋषियों के नाम पर पड़ा है। हम कहेंगे कि नहीं, क्योंकि किसी वस्तु का विशेषण असाधारण (केवल उसी वस्तु के लिए उपयुक्त) होता है। एक संहिता के लिए असाधारण (विशेषण) के रूप में एक कर्ता ही हो सकता है, प्रवचन करनेवाले तो अनेक होंगे। [काठक, कालापक आदि विशेषण जो वैदिक संहिताओं में लगाये जाते हैं वे निश्चित रूप से असाधारण के चोतक हैं अर्थात् वह संहिता काठक ही है, अन्य नाम उसका नहीं है। यह असाधारणता केवल ग्रन्थवर्तों के लिए ही उपयुक्त है, क्योंकि प्रवचनकर्ता तो बहुत से होने के कारण साधारण होंगे। अतः काठकादि के रूप में एकमात्र विशेषण वेदों के कर्ता का सूचक है।]

इससे ज्ञात होता है कि कर्ता का स्मरण न किये जाने पर भी वैदिक विधियों का कर्ता कोई अवश्य होगा। इसलिए वैदिक विधियों से लक्षित परमकल्याणकारी पदार्थ धर्म-प्रमाण नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥

जननमरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते । 'ववरः प्रावाहणिरकामयत', 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' इत्येवमादयः । उद्दालकस्यापत्यं गम्यत औद्दालकिः । यद्येवम्, प्रागौद्दालकिजन्मनो नायं ग्रन्थो भूतपूर्वः । एवमप्यनित्यता ॥ २८ ॥

वेदों में अनित्य पदार्थों का उल्लेख देखकर भी [हम उन्हें पौरुषेय सिद्ध करते हैं] ॥ २८ ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि वेदों में हमें ऐसे पदार्थों का श्रवण होता है जो जन्म तथा मृत्यु से युक्त हैं। जैसे एक वैदिक वाक्य है—प्रावाहण के पुत्र ववर ने ऐसी इच्छा की (तै० सं० ७।१।२०)। दूसरा वाक्य है—उद्दालक के पुत्र कुसुरुबिन्द ने ऐसी इच्छा की (तै० सं० ७।२।२)। इसी प्रकार अनेक वाक्य हैं। यह ज्ञात होता है कि औद्दालकि, उद्दालक का पुत्र है, उससे उत्पन्न है। यदि ऐसी बात है तो उद्दालक के पुत्र के जन्म से पूर्व का यह ग्रन्थ नहीं हो सकता। इससे भी वेद की अनित्यता सिद्ध होती है कि विशेष समय में इसकी रचना हुई ॥ २८ ॥

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २६ ॥

उक्तमस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतृणाम् । केवलमाक्षेपपरिहारो वक्तव्यः ।
सोऽभिधीयते ॥ २९ ॥

सिद्धान्त पक्ष—यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक अध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा है ॥ २९ ॥

हमने पाँचवे सूत्र की व्याख्या के क्रम में ही यह कहा है कि वेद के अध्येताओं की अविच्छिन्न परम्परा (शब्दपूर्वत्व, शब्द = अध्ययन) है । [प्रत्येक अध्येता के अध्ययन के पूर्व दूसरे अध्येता का अध्ययन था, इस प्रकार शब्दाध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा है । प्राचीनतम अध्येता का ज्ञान है, किन्तु कर्ता का नहीं । इसलिए वेद नित्य है ।] यहाँ पर अभी केवल आक्षेपों का परिहार करना चाहिए, उसे हम अभी कर रहे हैं ॥ २९ ॥

आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥

यदुक्तं—कर्तृलक्षणा समाख्या काठकाद्येति । तदुच्यते—नेयमर्थापत्तिः । अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन् । प्रकषेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति । स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी । कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति । स बहुशाखाध्यायिनां संनिधावेकशाखाध्यायी, अन्यां शाखामनघोयानः, तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणम् ॥ ३० ॥

वेदों का तथाकथित नामकरण प्रवचन (अध्यापन) करने के कारण है ॥ ३० ॥

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि काठक आदि समाख्या (नामकरण) वेद के कर्ता को सूचित करती है, उसका उत्तर हम देते हैं—कर्ता के विषय में इस प्रकार अर्थापत्ति (कल्पना) करना उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि कभी-कभी लोग किसी कृति का नाम उसके अकर्ता के (रचयिता से भिन्न किसी व्यक्ति के) आधार पर भी रख देते हैं [यदि उस व्यक्ति ने किसी कृति की अपूर्व या असामान्य व्याख्या की हो ।] यही स्थिति यहाँ भी है । कठादि ऋषियों ने भी इसी प्रकार उत्कृष्ट प्रवचन या व्याख्यान किया है जैसा अन्य लोग नहीं कर सकते । इसीलिए लोग वैदिक संहिताओं का नाम इन असाधारण प्रवचनकर्ताओं के आधार पर देते हैं । [इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि केवल कर्ता होने से ही असाधारणता नहीं रहती अपितु प्रवचनकर्ता होने में भी असाधारणता रह सकती है । मूल ग्रन्थकार ही असाधारण नहीं होता, किसी ग्रन्थ का व्याख्याकार भी असाधारण हो सकता है—इसलिए काठकादि विशेषण अनर्थक नहीं है ।]

ऐसा स्मृतियों से ज्ञात है कि वैशम्पायन यजुर्वेद की सभी शाखाओं के अध्येता थे; जब कि कठ ने एकमात्र इसी शाखा का अध्यापन या प्रवचन किया था जिसका नाम काठक-शाखा पड़ा । अनेक शाखाओं के अध्येताओं के समक्ष वे कठ एकमात्र एक ही शाखा के अध्येता थे, दूसरी शाखा का अध्ययन उन्होंने नहीं किया । इसलिए अपनी विशिष्ट शाखा में प्रकृष्टता (विशेषज्ञता) प्राप्त करने के कारण यह जो असाधारण विशेषण 'काठक' उनकी शाखा के लिए लगाया जाता है, बिल्कुल संगत है ॥ ३० ॥

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥

वस्तुतः वहाँ ['बाबर' आदि शब्दों में] केवल ध्वनि की समानता है ॥ ३१ ॥

यच्च प्रावाहणिरिति । तन्न । प्रवाहणस्य पुरुषस्यासिद्धत्वाच्च प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः । प्रशब्दः प्रकर्षे सिद्धः, वहतिश्च प्रापणे । न त्वस्य समुदायः क्वचित्सिद्धः । इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्तरि । तस्माद् यः प्रावाह्यति स प्रावाहणिः । बबर इति शब्दानुकृतिः । तेन यो नित्यार्थः तमेवैतौ शब्दो बदिष्यतः । अत उक्तं—परं तु श्रुतिसामान्यमात्रमिति ॥ ३१ ॥

पूर्वपक्षियों ने जो प्रावाहणि इत्यादि दृष्टान्त देकर वेदों को अनित्य सिद्ध करना चाहा है, वह ठीक नहीं है । प्रवाहण नामक कोई भी पुरुष इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए प्रवाहण का पुत्र प्रावाहणि हो, यह बात नहीं है । वास्तव में 'प्र' शब्द प्रकर्ष के अर्थ में प्रसिद्ध है और 'वह्' धातु ले जाने के अर्थ में है । किन्तु इन दोनों शब्दों का समुदाय किसी प्रसिद्ध (प्रवाहण) शब्द की रचना करता हो, ऐसा कुछ नहीं है । अब रहा 'इ' प्रत्यय [जो प्रावाहणि में है] । जिस प्रकार 'इ' प्रत्यय अपत्य (पुत्र) के अर्थ में प्रसिद्ध है (यथा—दाशरथिः) उसी प्रकार वह किसी क्रिया की स्थिति में कर्ता के अर्थ में भी होता है । इसीलिए 'प्रावाहणि' शब्द का अर्थ यह हुआ कि जो प्रकृष्ट रूप से वस्तुओं को ले जाय [अर्थात् इसका अर्थ 'प्रवाहण का पुत्र' नहीं होता] ।

जहाँ तक 'बबर' शब्द का प्रश्न है वह प्रवाहित होनेवाले वायु की ध्वनि का अनुकरणमात्र है । इस प्रकार जो पदार्थ नित्य या सिद्ध है—(वायु) उसी के बोधक ये दोनों शब्द हैं । इसलिए कहा गया है—वस्तुतः वहाँ केवल अव्यक्त ध्वनि की समानता है ॥ ३१ ॥

कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः संबन्धात् ॥ ३२ ॥

अथ कथमत्रगम्यते—नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति ? तथा हि पश्यामः—'वनस्पतयः सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति । यथा—जरद्गवो गायति मत्तकानि । कथं नाम जरद्गवो गायेत ? कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन् इति ?

उच्यते—विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परं संबन्धार्थम् । कथम् ? ज्योतिष्टोमः इत्यभिधाय 'कर्त्तव्यः' इत्युच्यते । 'केन' इत्याकाङ्क्षिते सोमेनेति । 'किमथम्' इति स्वर्गायेति । 'कथम्' इति, इत्थमनयेतिकर्त्तव्यतयेति । एवमवगच्छन्तः, पदार्थैरेभिः संस्कृतं पिण्डितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबालवाक्यसदृशमिति वक्ष्यामः ।

[जिन असंबद्ध या असंगत वाक्यों पर विवाद है उनका] किसी कार्य में विनियोग हो सकता है, क्योंकि सभी सभी वैदिक वाक्यों का किसी-न-किसी कर्म से सम्बन्ध है ॥ ३२ ॥

पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—आप लोग यह किस प्रकार जानते हैं कि वेद-वाक्य उन्मत्तों तथा बालकों के असम्बद्ध वाक्यों के समान नहीं हैं ? उदाहरण के लिए हम वेदों में ऐसे वाक्य पाते हैं—पेङ्ग-पौषों ने सत्र-याग में आसन ग्रहण किया, सर्पों ने सत्र में आसन

लिया। ये वाक्य वैसे ही असंबद्ध हैं जैसे—जरद्गवो गायति मत्तकानि (बूढ़ा साँड़ मादक गीत गाता है)।^१ बूढ़ा साँड़ गीत कैसे गा सकता है? पुनः पेड़-पौधे या सर्प किस प्रकार सत्र में बैठ सकते हैं? [इसलिए वैदिक वाक्य असंबद्ध हैं।]

अब हम (सिद्धन्तवादी) लोग इसका उत्तर देते हैं—वेदों में हम नियमतः वाक्यों को एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ में ही प्रयुक्त (त्रिनियुक्त) देखते हैं। [ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, सोमेन यजेत इत्यादि वाक्य परस्पर संबद्धार्थक दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि ये सभी क्रिया-परक हैं। क्रिया को मीमांसक लोग 'भावना' भी कहते हैं। भावना के तीन अंश होते हैं—साध्य (उद्देश्य), साधन तथा इतिकर्तव्यता (क्रिया की सफलता या पूर्णता का प्रकार)। जिस भावना में ये तीनों अंश प्राप्त हैं वह कभी निरर्थक नहीं हो सकती। इन्हीं बातों को अब भाव्यकार बतला रहे हैं।]

यह आप कैसे कह सकते हैं कि वेदों में संबद्धार्थक वाक्य हैं? जब 'ज्योतिष्टोम' शब्द का अभिधान होता है तब उसमें आकांक्षा की पूर्ति के लिए क्रिया जोड़ी जाती है—कर्तव्यः (करना चाहिए)। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि किस साधन से यज्ञ हो? उत्तर होगा कि सोम नामक द्रव्य से यज्ञ हो। जब इस यज्ञ के उद्देश्य की जिज्ञासा होती है तब उत्तर मिलता है कि स्वर्ग के लिए यह यज्ञ होता है। पुनः प्रकार की जिज्ञासा होने पर हम जानते हैं कि इस प्रकार की इतिकर्तव्यता के अनुष्ठान से यज्ञ पूरा होता है। इस प्रकार भावना के अंशों की समझनेवाले हम लोग इन विभिन्न पदार्थों से परिष्कृत तथा उनके संयुक्त अर्थों से निष्पन्न (पिण्डित) वाक्यार्थ को उन्मत्तों तथा बालकों के वाक्यों के समान [असंबद्ध] कैसे कह सकेंगे?

ननु अनुपपन्नमिदं दृश्यते—'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्येवमादि। नानुपपन्नम्। नानेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः। अपि च—'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः। स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य। वनस्पतयो नामाचेतनाः इदं सत्रमुपासितवन्तः। किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः। तद्यथा लोके—सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति। अपि च—अविगीतः सुहृदुपदेशः सुप्रतिष्ठितः कथमिवाशङ्केतोन्मत्तबालवाक्य-सदृश इति?

तस्मान्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमच्छबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः।

समाप्तस्तर्कपादः ॥

यह आक्षेप होता है कि ऐसे कथन तो असङ्गत दिखलाई पड़ते हैं—पेड़-पौधों ने सत्र में आसन ग्रहण किया। हम कहेंगे कि नहीं, असंगत नहीं है। पहली बात तो यह है कि केवल एक वाक्य के असंगतार्थ होने से 'स्वर्ग' की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को अग्निहोत्र

१—पूरा श्लोक असंबद्धार्थक है।

जरद्गवः कम्बलपादुकाम्यां द्वारि स्थितो गायति मत्तकानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः ॥

करना चाहिए' इत्यादि सभी वैदिक वाक्य असंगतार्थ हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त, दूसरी बात यह है कि 'पेड़-पौधो ने सत्र में आसन लिया' इस प्रकार की विधियाँ भी अपने-आप में असंगत नहीं हैं। कारण यह है कि ये विधियाँ साक्षात् क्रिया-प्रवर्तक नहीं हैं' अपितु सत्र की स्तुतियाँ (अर्थवाद) हैं। इनका उपयोग इस प्रकार है—जब अचेतन वनस्पतियों ने भी इस यज्ञ का अनुष्ठान किया, तब विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना? जिस प्रकार लोक में व्यवहार चलता है—सन्ध्याकाल में पशु (मृगाः) भी नहीं चरते, विद्वान् ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है? [इस प्रकार कैमुतिक न्याय या दण्डापूपन्याय से सत्र-को स्तुति की गयी है।]

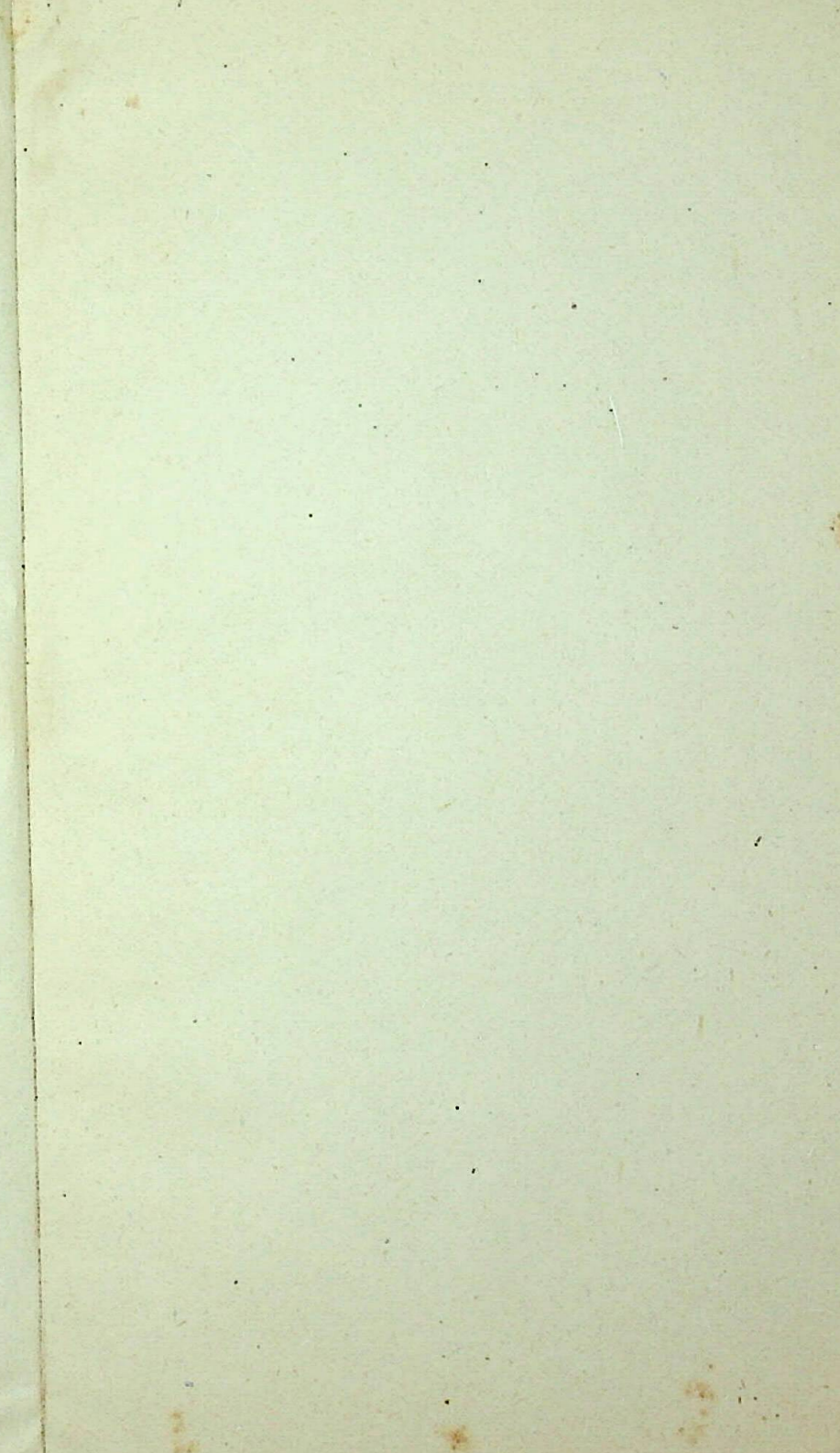
इसके अतिरिक्त, वेदों का उपदेश अनिन्दनीय, मित्रों के परामर्श के तुल्य सुखद तथा निश्चित है, ऐसी स्थिति में इसके उन्मत्तों तथा बालकों के वाक्यों के सदृश, असंबद्ध या असंगत होने की आशंका कैसे की जा सकती है?

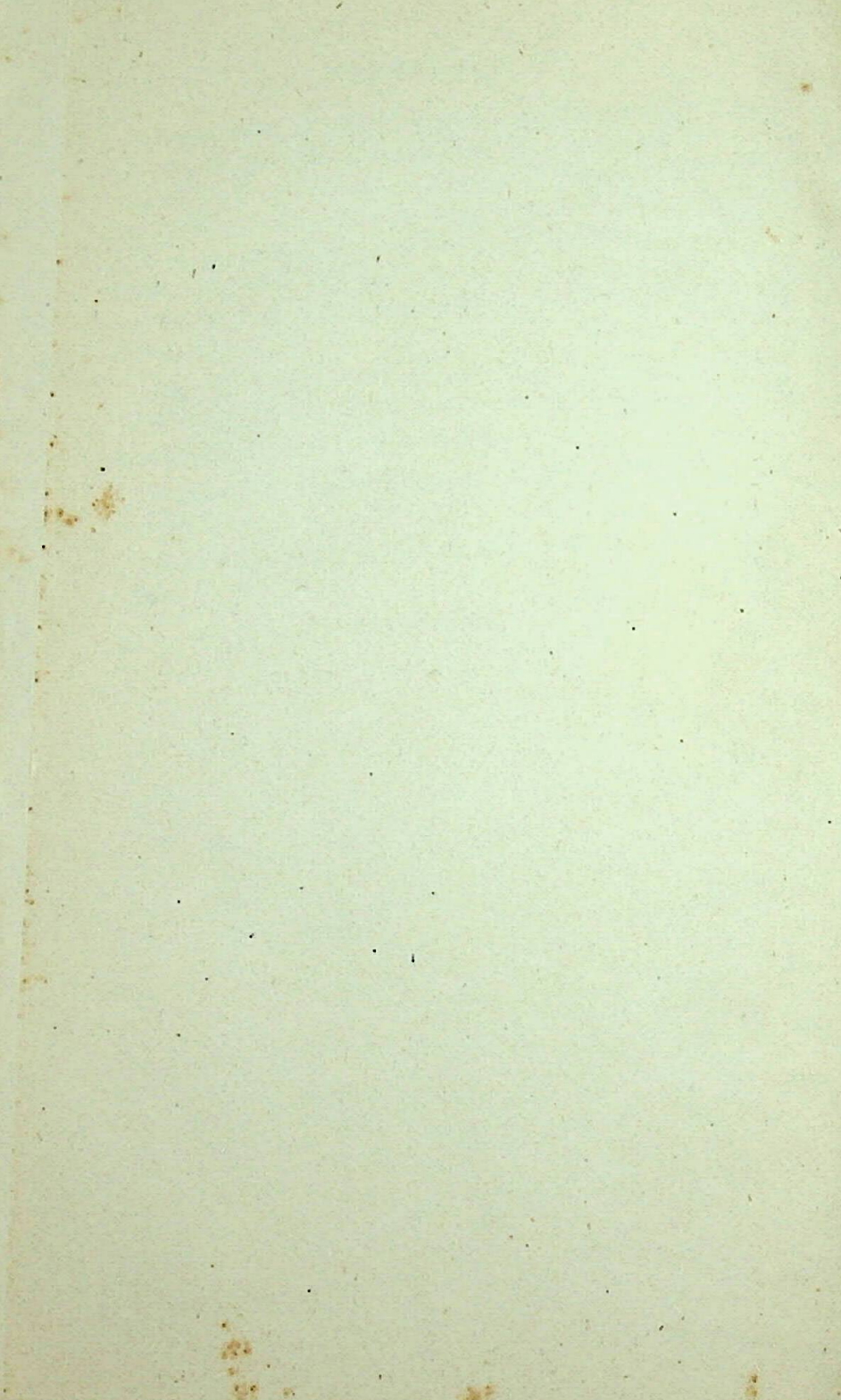
इन युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक विधिवाक्यों से लक्षित परम कल्याणकारी पदार्थ धर्म है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्री शबरस्वामी की कृति मीमांसाभाष्य में प्रथम अध्याय का प्रथम पाद समाप्त हुआ।

तर्कपाद भी समाप्त हो गया।

—: ० :—







सर्वदर्शनसंग्रहः

विशद हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि विभूषित

डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

प्रस्तुत संस्करण में (१) मूल का अनुसरण करते हुए सरल साहित्यिक हिन्दी भाषा में अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या । (२) शास्त्रार्थ-स्थलों पर समस्याओं की पृष्ठ-भूमि दिखाकर उनकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना तथा बीच-बीच में सारांश-कथन । (३) ऐतिहासिक टिप्पणियाँ । (४) प्रत्येक दर्शन का विषयानुसार अनुच्छेदों में विभाजन । (५) हिन्दी भूमिका में लेखक के समयादि पर विचार और सभी दर्शनों का संक्षिप्त पर्यालोचन । (६) अंग्रेजी भूमिका में दर्शनों के तारतम्य का, ग्रन्थ की शैली का तथा दर्शनों की विषय-वस्तु का विवेचन । तथा (७) परिशिष्टों में दर्शन-सम्बन्धी अत्युपयोगी शोधपूर्ण सामग्री का संकलन है ।

५०-००

भारतीय दर्शन

लेखक—डॉ० उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'

पृ० ५०, साहित्याचार्य, डी० लिट०

भारतीय दर्शन पर अनेक ग्रन्थों के होने पर भी इस पुस्तक का अपना महत्त्व है । प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखे हुए होने पर भी इसमें आधुनिक समीक्षा-पद्धति का चमत्कार है । दर्शन के मूल पदार्थों का विवेचन इसमें बहुत ही गंभीरता के साथ किया गया है । वैदिक दर्शन से आरंभ करके आधुनिक काल तक के दार्शनिकों के विचार का गहन मन्थन इसमें हुआ है । पुस्तक पांच खंडों में विभक्त है—वैदिक दर्शन, नास्तिक दर्शन, षड् दर्शन, आगम तंत्र तथा आधुनिक दर्शन । पुस्तक समान रूप से विश्वविद्यालय के छात्रों, शोधकर्त्ताओं तथा सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है ।

शीघ्रप्राप्य !

अर्थसंग्रहः

'मीमांसासंग्रहकोमुदी' तथा 'प्रकाशिका' हिन्दीव्याख्योपेतः

डॉ० श्रीकामेश्वरनाथ मिश्र

अर्थसंग्रह मीमांसादर्शन के जिज्ञासुओं के लिये एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है । इसीलिये यह विभिन्न विश्वविद्यालयों की विभिन्न कक्षाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित है । मीमांसादर्शन की दुरूहता के कारण उपयोगी होने पर भी इस ग्रन्थ के विषयों को हृदयङ्गम कर पाना कठिन है । ग्रन्थ के पाठ भी अनेक स्थलों पर विवादस्पद हैं । विद्यार्थियों तथा जिज्ञासुओं के हितार्थ इस ग्रन्थ के मूल का हिन्दी में सरल अनुवाद करके सम्बद्ध विषय तथा दुरूह पंक्तियों का स्पष्टीकरण 'प्रकाशिका' नाम की हिन्दी व्याख्या में कर दिया गया है । विषय को स्पष्ट करने के लिये अनेक रेखाचित्र भी यथास्थान सन्निविष्ट हैं । मूल ग्रन्थ का पाठ संशोधन प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया है । प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या अनेक मौलिक तथा टीका ग्रन्थों के आधार पर सप्रमाण की गई है । संस्कृत के छात्रों के लिये रामेश्वर शिवयोगी की संस्कृत व्याख्या 'कोमुदी' भी दी गयी है । हिन्दी व्याख्या की भाषा इतनी सरल एवं सरस है कि छात्रों को विषय समझने में रज्जमात्र भी कठिनाई नहीं होगी । भूमिका में ग्रन्थ, ग्रन्थकार आदि के विषय में तथा अन्त में ग्रन्थ में उद्धृत मन्त्रों की सूची, परिभाषिक शब्दानुक्रमण, आदि सामग्री देकर ग्रन्थ को और भी अधिक उपयोगी बनाया गया है ।

२५-००

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी